श्री यतीन्द्रसूरि जैन साहित्य कार्यालय पुष्प २

मार्गानुसारी ३५ गुण विवरण



लेखक —

श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरि शिष्य
मुनि श्री न्यायविजयजी

卐

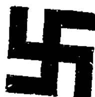
प्रकाशक —
श्री यतीन्द्रसूरि जैन साहित्य कार्यालय
११ जूनी कसेराबाखल इन्दौर



वी नि २४७३ | प्रथम संस्करण | विक्रम २००४
राजेन्द्रसूरि ४० | | सन १९४७ ई०

मूल्य २) रुपया

लेखक—
मुनिराज श्री
न्यायविजयजी महाराज



मुद्रक—
राजमल लोढ़ा
भारत प्रि. प्रेस, मन्दसौर

देव-वन्दन-"माला"

संयोजक—आचार्य देव विजययतीन्द्र सूरि शिष्य
मुनिराज श्री न्यायविजयजी

प्रिय महानुभावो !

आप जिस पुस्तक की लगभग बीस पच्चीस वर्ष से प्रतीक्षा कर रहे थे, उसी देववंदन-माला का चौथा संस्करण भगवान श्री आदीनाथ स्वामी के केवल कल्याणक वि. स. २००३ फाल्गुन कृष्णा एकादशी को प्रकट होरहा है।

इसमें ज्ञानपंचमी, चौमासी, श्री सिद्धाचलजी नवपदओली, मौन एकादशी, दीपावली के सविधि देववंदन मौन एकादशी गुणना और भगवान के १२० कल्याणक हैं।

पुस्तक की उपयोगिता तो तीन संस्करण समाप्त होने से अपने आप प्रकट हो ही जाती है। किन्तु फिर भी यह अवश्य कहना होगा कि गत "देववंदन माला" सिर्फ नवपद आराधना ज्ञान पंचमी आदि व्रत करने वालों के काम की चीज थी, परन्तु अबकी बार इसमें जैन विधि से लक्ष्मी पूजन, बड़ा गौतम रास और दीपावली के अवसर पर सिद्ध करने योग्य प्रमाविक मंत्र, यंत्र, और तंत्र भी बढ़ा दिये गये हैं।

साथ ही तपाराधन नियम, क्रिया विधि आदि हिन्दी भाषा में होने से तथा वर्तमानाचार्य श्रीमद् विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का सुन्दर चित्र लगा देने से पुस्तक की चौगुना शोभा बढगई है। प्रत्येक व्रत आराधक, एव व्यापारी, सद्गृस्थों को चाहिये कि पुस्तक प्रकाशित होने के पहिले ही अपना स्थान, नियत (रिझर्व) करले।

(१) जो महानुभाव एक साथ देववदन माला की तीन सो प्रति के ग्राहक बनेगें, उनका देववदन माला में चित्र एव सक्षिप्त परिचय छप सकेगा। ब्लाक उनको भेजना होगा, यदि ब्लाक न हो तो बनवाने का चार्ज उनके जिम्मे रहेगा।

(२) देववदन माला की सो प्रति एक साथ लेनेपर कार्यालय की सदस्य श्रेणी में उनका नाम छप सकेगा।

(३) देववदन माला की पचास प्रति एक साथ लेने पर, उनका नाम ग्राहक श्रेणी में छप सकेगा साथ ही मार्गानुसारी गुणविवरण की दो पुस्तके उपहार दी जायगी,

(४) देववंदन माला की पचीस प्रति एक साथ लेने वालों को एकप्रति मार्गानुसारी गुण विवरण एव दो तप प्रसून (संक्षिप्त तपावली) उपहार दी जायगी।

(५) देववदन माला की बारा प्रति एक साथ लेने पर एक मर्गानुसारी गुण विवरण या दो तप प्रसून दोनों में से कोईमी ग्राहक को इच्छानुसार पुस्तक भेज दी जायगी अन्य साहित्य की अपेक्षा देववंदन माला ही ऐसी पुस्तक हैं जो एक बार मगवालेने पर पीढ़ी दर पीढी के धर्म आराधना एव स्व श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी महाराज की मजी हुई प्रतिभा सपन्न लेखनी की नोक से अकित प्रत्येक चैतन्य वदन स्तुति और स्वतन अध्ययन की वस्तु हैं। अत प्रत्येक महानुभाव शीघ्र ही देववदनमाला मगवालें। पुस्तक का छपाई और सफाई पर पूर्ण ध्यान रखा गया हैं, पुस्तक सर्व सुलभ हो, इसलिये इस भीषण महगी के समय में भी पुस्तक का मूल्य सिर्फ दो रुपया मात्र रखा है।

(२)

तपः प्रसून

(सक्षिप्त तपावली)

ऐसे तो रत्नसार, तपोरत्न महोदधि आदि ग्रथों में बड़े लबे चोड़े-तप दिये गये हैं किन्तु वे इस समय शारीरिक शक्ति की अपेक्षा कठिन ही नहीं किन्तु दुष्प्राप्य प्रतीत होते हैं। अत तप, प्रसून में सब सरल वर्तमान में प्रच,

लित अनुकरणीय और चमत्कारिकतपों का समावेश किया जिससे प्रत्येक श्रावक श्राविकाए तपश्चर्या में सुगमता से सफल हो सकें कतिपय तप के नाम सिद्धि तप, सौभाग्य कल्पवृक्ष तप, दरिद्रता(निर्धनता)हरण तप, आपत्ति निवारक तप, ज्ञान पंचमी, मौनएकादशी पौस दसमी, बीसस्थानक आदि लगभग ६० सोत्तर तप की विधि लिखी गई हैं।

अर्थात् ग्रंथ का कलेवर न बढा कर उपयोगी तप का समावेश हैं साथ ही अनुक्रम से सविधि देववंदन जोड देने से पुस्तक की विशेष उपयोगिता बढ गई हैं। जिनको देववंदन करना नहीं आता वे भी इससे लाभ ले सकेंगें। इतना होते हुए भी, इस भीषण महंगाई के समय में पुस्तक मूल्य १) एक रुपया रखा हैं।

(५) सम्यक्त्व मूल बारह व्रत

यह छोटासी पाकेट सॉइज की पुस्तक व्रत ग्रहण करने वाले श्रावक श्राविकाओं के लिये बडे काम की चीज हैं। इसमें बारह व्रत की संक्षिप्त टीप और अनुपूर्वी दी गई हैं, साथ ही, चौदह नियम साधने वालों के लिये यंत्र बड़ा उपयोगी हैं, सुगमता से नियम चितवन करना आता है।

एक प्रति अवश्य मगवावें, सफर में एवं प्रातःकाल में स्वाध्याय करने योग्य मागलिक हैं
साथ ही इससे ॐ अर्हम् प्रार्थना होने से बालक बालिका बड़े प्रेम से पढ़ते हैं।
मूल्य तीन आना मात्र

पुस्तकों के प्राप्ति स्थान—

(१) श्रीमद् विजययतीन्द्रसूरि जैन साहित्य कार्यालय
c/o राजेन्द्र जैन वाचनालय ११ जूनी कसरा बाखल
पोस्ट इन्दौर सिटी H.S

(२) शोभागमल चपालाल पगारिया (काठेड़)
पोस्ट बदनावर (धार स्टेट)

(३) हीराचदजी समीरमल खजांची
मु पो राजगढ़ ग्वालियर (स्टेट)

(४) धर्मचन्दजी चपालालजी नागदा
पोस्ट—खाचरोद (ग्वालियर)

(५) दूनाजी शोभागमलजी मोदी
पो—झकनावदा (झाबुआ स्टेट) स्टेशन—बामनिया

(६) मन्नालालजी चोपड़ा — रतलाम (मालवा)

पत्र व्यवहार का पता:—
श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरी जैन साहित्य कार्यालय
-पन्नालालजी जैन-
राजेन्द्र जैन वाँचनालय
११ जूनी कसेरा बाखल इन्दौर

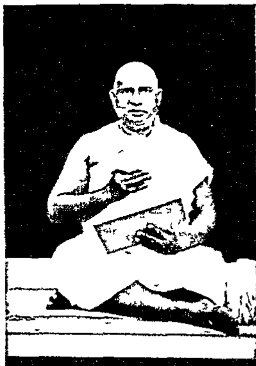


विशेष परिचय:—
आचार्य देव श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरि शिष्य
मुनि श्री न्यायविजयजी से मिल सकेगा।

प्रबन्धक:—
P B Jain
जूना पीठा इन्दौर H S

समर्पण

पूज्यपाद-व्याख्यानवाचस्पति आचार्य-देवेश गुरुदेव !
श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के
पुनित करकमलों में



यह सीख सका कुछ लेखना, प्रभो ! आपके प्रतापसे,
कर रही उसको समर्पित, गुरुदेव ! अति उत्साह से।
मार्गानुसारी गुणविवरण स्वीकार इसको कीजीये,
फिर भी मैं कुछ लिख सकूँ, आशीष मुझको दीजिये॥

मुनि न्यायविजय



प्रस्तावना



मानव जीवन में साहित्य एक पथ प्रदर्शक वस्तु है । जिस साहित्य का हृदय की लगन, परिश्रम और जगत् के सूक्ष्म अनुभव के पश्चात् निर्माण होता है, वही साहित्य अनेक मनुष्यों को मानवता एवं मोक्ष मार्ग की ओर लजा सकता है ।

प्रस्तुत मार्गानुसारी ३५ गुण विवरण कई महा पुरुषों के जीवन के गहरे अनुभव का एक सजीव उदाहरण है।

इस में पैंतीस गुण क्या हैं ? मानों प्रत्येक गुण में जीवन की अनूठी झकार है ।

इस के संस्कृत संपादक रत्न मडन गणी वर्य हैं । उसी पर से मुनि श्री न्यायविजयजी ने इसका हिन्दी विवेचन लिखा है । यद्यपि विवेचन में अधिक सफलता न हो पाई है, फिर भी जो कुछ हो सका है, वह प्रारंभिक कार्य का अपेक्षा प्राह्य एवं प्रशंसनीय है ।

जीवन को आनंद से बिताना एक कला है

जो इस कला को नहीं जानते, वे धनवान, निरोग मोटे-ताजे,

कुटम्बवान, अप-टु-डेट होवे हुए भी सदा रोते झींकते हैं, अनेकों ठोकरें खाकर हमेशा पछताते रहते है। किन्तु जिन्होंन

मार्गानुसारी ३५ गुण विवरण

की सहायता से तथा स्वयं अपनी विवेक बुद्धि से इस कला को जान लिया है। वे अल्प साधन थोड़ी पूँजी के होते हुए भी सदा सुखी रहते हैं। संसार उन को चाहता हैं, स्थान स्थान पर वे बड़े सम्मानित होते हैं। और ऐसे ही व्यक्ति वास्तविक धर्माराधक बन सकते हैं।

जैसे कि— इस कला की प्रथम सोपान (सीढ़ी) न्याय संपन्न विभव—अर्थात् न्यायोपार्जित द्रव्य है। जिस मनुष्य के पास सचाई और परिश्रम के पैसे का अभाव है। उस मानव का जीवन बिल्कुल निरस गन्ने के समान हैं, अबोध लोग समझते हैं कि लूट-पट्टी से धन कमाने वाले बड़े सुखी रहते हैं। यह केवल भ्रम मात्र है।

दगे बाजी ब्लेक मार्केट और अन्याय से पैसा जुटाने वालों को न यहाँ चैन पड़ता है, और न उनको स्वर्ग मिलता है।

भला स्वर्ग तो दूर रहा किन्तु उन स्वार्थी नरकीटों का यहीं पर सरकारी हन्टों स जगह जगह स्वागत होता हैं, तथा सामाजिक और धार्मिक स्थानों में वे हमेशा के लिये लोगों की दृष्टि स गिर जाते हैं।

अत ऐसी झंझटों से बचकर जीवन को आनंद-मय रीति से बिताने के लिये ही मार्गानुसारी ३५ गुण विवरण का विवेचन लिखा गया है।

समस्त जैन श्री संघ व प्रत्येक गृहस्थ को चाहिये कि अपने बालक बालिका और नववधू आदि को मार्गानुसारी ।३५ गुण विवरण की एक एक प्रति अवश्य उपहार दें।

परिवार के कोमल हृदय पर प्रारंभ में जैसे जो संस्कार डाले जाते हैं वे आजीवन स्थाइ अंकित रहते हैं। इसपुस्तक में सुशिक्षा संस्कार को मजबूत बनाने का ठोस मसाला और जीवन को परिवर्तन करने वाली उत्तम सामग्री ही नहीं किन्तु गृहस्थाश्रम और सम्यक्त्व का निर्मलता में आने वाला भयंकर आपत्तिया से मुक्त होने की सुन्दर (प्टोषम कला है। इति शम्

माघ शु ५ चंद्रवार
वीर स २४७३
विक्रमाब्द
२००३

आचार्य विजय यतीन्द्रसूरि
मु० भूति (मारवाड़)
२७-१-४७

हमारी एक अपील

बालकों को ज्ञानवान व गुणवान बनाकर समाज, धर्म और अपने

परिवार का भविष्य उज्ज्वल बनाइये !

प्रिय महानुभाव !

यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक देश, जाति धर्म और परिवार का भविष्य, बालक-बालिकाओं की सुशिक्षा और सस्कृति निर्माण पर ही निर्भर है।

आपके बालक-बालिका ही देश, समाज, और परिवार के मजबूत स्तंभ प्राण है, भाग्य निर्माता हैं। बालक-बालिकाओं के सुकोमल हृदय पर प्रारम्भ में जैसे भी सस्कार डाले जाते हैं, वे जिन्दगी भर-अमिट रहते हैं, पौधा चाहे जिधर झुकाया जा सकता है, वृक्ष नहीं। मिट्टी के कच्चे घड़े पर इच्छानुसार फूल-पत्तियां बेल बूटे बनाये जा सकते हैं, किन्तु पकनपर नहीं।

अत आपको अपने कुटुम्बके बालक-बालिकाओं को शिक्षा व सस्कार पर पूर्ण ध्यान देना चाहिये, बचपन से ही बालकों को

धार्मिक-साहित्य पढ़ने की रुचि पैदा करना, सुसंस्कार की नींव मजबूत कर, नैतिक जीवन को ठोस बनाना अति आवश्यक है। इस अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति के लिये, आप आज ही—

श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरि जैन साहित्य कार्यालय
११, जूनी कसेरा बाखल इन्दौर

के वार्षिक ग्राहक बनियेगा। कार्यालय के ग्राहक बनना मानों-

आम के आम गुठलों के दाम

यह कार्यालय आपसे प्रतिवर्ष पांच रुपये लेता है अर्थात् प्रति दिन करीबन ढाइ पाइ, इसके बदले में आपको ढाई सौ पृष्ठ का सुंदर प्रगतिशील साहित्य मिलेगा। साथ ही आप लोगों का पूर्ण सहयोग मिलने पर इससे भी अधिक सामग्री देने को हार्दिक भावना है। आपके उदार सहयोग से साहित्य प्रचार और श्रुत-भक्ति ज्ञान आराधना का अपूर्व लाभ होगा।

ज्ञान वृद्धि ही सम्यक्त्व की निर्मलता का प्रमुख साधन है।

इस वर्ष आपको निम्न पुस्तकें प्राप्त होंगी ।

ग्राहक ______________________________

______________________ नं

पुस्तकों का नाम ______________ पृष्ठ

______________ पृष्ठ ______________

______________________ पृष्ठ

परिवार की संस्कृति, चरित्र निर्माण में लगाया हुआ पैसा या परिश्रम आपके आँख के सामने ही सुफल दायक होगा यह स्वय सिद्ध है ।

श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरि जैन साहित्य कार्यालय
११, जूनी कसेरा बाखळ, इन्दौर,

श्री मद्विजय यतीन्द्र सूरि जैन साहित्य कार्यालय

११, जूनो कसेरा बाखल, इन्दौर सीटी

संस्थापक मुनिराज श्री न्यायविजयजी



जैन साहित्य कार्यालय के उद्देश्य

१ संस्कृत, हिन्दी गुजराती और प्राकृत भाषा के लोकोपयोगी धार्मिक - सामाजिक ऐतिहासिक शिक्षण सबन्धि जैन साहित्य का प्रचार करना ।

२ प्रत्येक ग्रन्थ का विद्वान मुनिवरों के पास हिन्दी अनुवाद एवं संशोधन करवा कर उसको प्रकाशित कराना ।

३ श्रावक–श्राविका एव विद्यार्थी–जगत को साहित्यप्रेमी एवं धर्माराधक बनाना ।

४ श्रीमद्‌विजय यतीन्द्रसूरि जैन साहित्य कार्यालय के अध्यक्ष पूज्यपाद श्री श्री श्री १००८ आचार्य देव विजय यतीन्द्रसूरि शिष्य मुनिराज श्री न्यायविजयजी हैं ।

५ श्री य जैन साहित्य कार्यालय की ओर से जितनी भी पुस्तकें प्रकाशित होगी उनमें गद् अश्लील, अथवा भद्दे विषया को स्थान न दियो जायगा ।

बड़े बूढ़ों की स्मृति का—

सु—अवसर

श्री मद्विजय यतीन्द्रसूरि जैन साहित्य कार्यालय के

— नियम —

(१) जो महाशय एक साथ हजार (एक १०००) रूपय प्रदान कर सहायता पहुँचायेंगे, वे जैन साहित्य कार्यालय के स्तम माने जायेंगे,

स्तम महोदय के सन्मान के लिये कार्यालय अपनी ओर से प्रकाशित प्रत्येक पुस्तक (जो कि डेढसौ पृष्ट से अधिक हो) में स्तम महोदय का चित्र देगा, तथा उनकी सेवामें प्रत्येक पुस्तक की तीन तीन प्रति भेंट भेजेगा।

(२) जो महाशय एक साथ ५००) पांचसौ रूपये देकर सहायता पहुँचायेंगे वे जैन साहित्य कार्यालय के सरंक्षक माने जायेंगे। व इस उपलक्ष्य में कार्यालय से प्रकाशित प्रत्येक पुस्तकों के मुखपृष्ट पर सरंक्षक महोदय का नाम छपेगा। तथा उनकी सेवा में प्रत्येक पुस्तक की तीन तीन प्रति कार्यालय भेंट भेजेगा।

(३) जो महाशय एक साथ २५०) ढाइसौ रूपये देकर सहायता पहुँचायेंगे। वे साहित्य कार्यालय के आजीवन सहायक माने जायेंगे।

आजीवन सहायक महोदय का प्रत्येक पुस्तक में नाम छपेगा, तथा उनकी सेवा में कार्यालय से प्रकाशित प्रत्येक पुस्तक की दो दो प्रति भेंट दी जायगी।

(४) जो महाशय एक साथ १०१), एक सौ एक देकर सहायता पहुँचायेंगे वे साहित्य कार्यालय के प्रमुख सहायक माने जायगें।

प्रमुख-सहायक महोदय का प्रत्येक पुस्तक में नाम छपेगा, तथा उनकी सेवा में कार्यालय से प्रकाशित प्रत्येक पुस्तक की एक एक प्रति भेंट भेजी जायगी।

(५) जो महाशय एक साथ ५०) पचास रूपये देकर सहायता पहुँचायेंगे, वे साहित्य कार्यालय के प्रगतिकर्वा माने जायेंगे प्रगतिकर्वा महोदय का नाम प्रत्येक पुस्तक में छपेगा, तथा उनकी सेवा में कार्यालय से प्रकाशित प्रत्येक पुस्तक की एक प्रति भेंट भेजी जायगी।

(६) जो महाशय एक साथ २५) रूपये प्रदान कर सहायता

पहुँचायेंगे वे माननीय सदस्य माने जायेंगे, माननीय सदस्य महोदय का प्रत्येक पुस्तक में नाम, छपेगा, तथा साहित्य कार्यालय से प्रकाशित हर एक पुस्तक की एक प्रति अर्घ मूल्य में दी जायगी।

(७) जो महाशय प्रति वर्ष पाँच रुपये देंगे वे वार्षिक ग्राहक माने जायेंगे, वार्षिक ग्राहकों को रुपये जमा होने की तारीख से एक वर्ष में साहित्य कार्यालय से जितनी भी पुस्तकें प्रकाशित होंगी वे उनको भेजी जायगी और यदि वे पूर्व प्रकाशित ग्रंथ लेंगे तो उनको पौने मूल्य में दिये जायेंगे

(८) स्तम्भ, संरक्षक, आजीवन सहायक, प्रमुख सहायक प्रगतिकर्ता, माननीय सदस्य और वार्षिक ग्राहक जो बाहर गाव के होंगे तो उनकी पुस्तकों को भेजने का डाक व्यय लगेगा, वह खर्च उन्हीं सज्जनों के जिम्मे रहेगा।

(९) श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरि जैन कार्यालय का वर्ष कार्तिक शुक्ला ज्ञान पंचमी से प्रारंभ होता है।

(१०) कार्यालय का विशेष परिचय मुनिराज श्री न्यायविजयजी से मिल सकेगा।

(११) कार्यालय से प्रकाशित पुस्तकें मूल्य से दी जायेंगी।

(१२) स्वगच्छीय साधु साध्वी को सूचना मिलते ही एक एक प्रति भेंट भेजदी जायगी, सिर्फ मार्ग व्यय डाक खर्च) उनके जिम्मे रहेगा।

(१३) पुस्तकालय व साधु-साध्वी को हर एक पुस्तक अर्धमूल्य से वी पी द्वारा भेजी जायगी।

(१४) समय की गति विधि अनुसार उपरोक्त नियमों में परिवर्तन करना अनिवार्य होगा।

श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरि
—जैन साहित्य कार्यालय
११, लूनी कसेरावाखळ, इन्दौर सिटी

मुनि न्याय-विजयजी



रतलाम स्टेशन से एक स्पेशियल ट्रेन छूटी और सीधी श्री सिद्धाचलजी के पुण्यतीर्थ में जाकर रुकी। इस ट्रेन में रतलाम श्रीसंघ का यात्री समुदाय था। अनेक भक्तिभाव पूरित श्रद्धालु यात्रियों से खचाखच भरी इस ट्रेन में एक नवतरुण भी यात्रा कर रहा था जो जीवन में सर्वप्रथम पुनीत तीर्थ क्षेत्र के दर्शनार्थ हृदय म श्रद्धा, भक्ति, उपासना और महाप्रभु के प्रति धवलानुराग की भव्य भावना ले घर से निकल पड़ा था। उत्तुंग-तुंग चूड़ाओं से मेघमाला को चुनौती देता हुआ परम पावन गिरिराज और महा मुनिवरों, प्रशान्त साधुओं तथा तेजस्वी तपस्वियों के दर्शनों से हमारे इस नवतरुण को आत्मिक आनन्द प्राप्त हुआ। जागतिक मोह-माया के छद्म-बंधन ढीले होकर धीरे धीरे टूटने लगे और वह आत्मानन्द के प्रथम सोपान पर निडर होकर पहुँच गया।

नवपद यात्रा करते समय पूज्य साध्वी-समुदाय के श्रीमुख से प्रस्फुटित मानस-स्पर्शी स्तवन-सज्झायसुमन गन्ध पान कर तरुण की सुषुप्त त्याग भावना अत्यधिक समुन्नत होने लगी। मोहतम का आज विध्वंस होने लगा और वह तपोनिधि साधुमार्ग की



सूरि-विजययतीन्द्रके है चरण सेवक प्रियवर।
साहित्य प्रेमी सु विजय मुनि न्याय हैं इस पत्र पर॥

जन्म स्थान खाचरौद — लघु-बड़ी दीक्षा

वि स १९७० पौ शु २ — स १९९५ कुक्षी-सियाणा

श्री महोदय

और सहज ही आकर्षित होगया।

एकदिन साध्वीजी श्री सोहनश्रीजी के श्रीमुख से ये वचन प्रगटित हुए—"कई देरे भोरा, मारवाड़ जा परो जठो ट्रसूरिया कने, सब ठीक वेला।"

आचार्य देव यतीन्द्र सूरीश्वरजी का पवित्र नाम सुनते ही तरुण के हृदय कपाट खुलगये, आत्माके दिव्य चक्षु युगल प्रयोतित हो उठे और तरुण आचार्य देवेशके चरण कमलों का धूलि-पराग मस्तकपर धारण करने के ध्येयसे एक दिन हरजी(मारवाड़) पहुँचा।

उस समय हरजी में प्रतिष्ठा महोत्सव था। मारवाड़ की मरुधरा के वैराग्य उत्पन्न करने वाले दृश्य तथा महोत्सव प्राङ्गण में आचार्य देवेश के प्रभावशाली श्रवणीय व्याख्यानों ने तरुण की आध्यात्मिक पिपासा में अकल्पित वृद्धि कर दी और उसने वहीं त्याग-वृत्ति (दीक्षा) ग्रहण करने का दृढ निश्चय कर लिया। परन्तु नियमानुसार घर जाना अनिवार्य था, साथ ही अबोधता का प्रश्न भी सम्मुख था।

अत वह अपने घर (इन्दौर) लौटा। वह सपरिवार इन्दौर में ही रहता था। उसके माता पिता ने तब उसका विवाह करने का विचार किया और उसे अपनी बात मान लेने के लिये बाध्य करने लगे। किन्तु जिस सदाशय के हृदय मंदिर में परम देव की

भक्ति लौ लगी हुई हो, महातीर्थ सिद्धाचलजी, साध्वी समुदाय हरजी का प्रतिष्ठा महोत्सव तथा आचार्य देवेश की आध्यात्मि वाणी का अमृत जीवन के अणु अणुओर कण कण में सराबोर होगया हो ! जिसे त्याग वृत्ति के पुण्य प्रतीक वातावरण के सामने अन्य सब मायावी रंग फीके मालूम होते हों, वह पुन नश्वर सृष्टि के तिमिर जालों में फँसने की मूर्खता क्यों करता ?

इसलिये वीर तरुण ने मातापिता तथा पारिवारिकजनों के वैवाहिक प्रयत्नों को सर्वथा विफल कर दिया और स्वयं आचार्य देवेश के चरणाम्बुजों में एक शुभ दिन पहुँच ही गया। मारवाड़ में सविधि पूज्यपाद आचार्य देव एवं उपस्थित मुनिवृन्द को सादर वन्दन कर तरुण ने अलौकिक आत्मतोष प्राप्त किया। इस समय हमारे तरुण के मानस में एक धुँधली सी विचार छाया उठकर बारर कहरही था—" कहीं आचार्य देव मेरे मनोरथ को अमान्य तो नहीं कर देंगे ? मुझे अपने चारु चरणारविन्दों में स्थान देकर पवित्र कर देंगे ? अन्यथा पुन मायान्ध-जगत के वीभत्स अट्टहास्य एव कुटिल कोलाहल से आकण्ठ भरे हुए चलचक्र की ओर लौटना पड़ेगा और नित नित नई-नई दारुण दुखों की श्रृखला में आबद्ध होकर नारकीय जीवन बिताना पड़ेगा। "

इस समय तरुण की मनोदशा ठीक वही थी जो अधिकांश नवीन दीक्षाकांक्षियों की होती है। किन्तु डूबते को तिनके का

सहारा मिल ही जाता है। मौन विचार रत तरुण की अन्तर्दशा को आचार्य श्रीमद् यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराजकी सुशिष्य मण्डली के दिव्य-रत्न मुनिराज श्री वल्लभविजयजी, विद्याविजयजी और सागरजी आदि मुनियों ने समझा और दुविधाग्रस्त तरुण को समीप बुला कर आत्मीय अनुराग पूर्ण शब्दों में आश्वासन देते हुए उन्होंने कहा—"गुरुदेव का मांगलिक कर मस्तक पर छावे ही सब 'फत्ते' है। क्या चिंता करते हो ?"

जिस भाग्यवान को पुण्यकर्मों के उज्ज्वल सम्बल से उत्तम मुनिवरों का साधु समागम प्राप्त होजाय उसके समान 'धन्यभाग्य' इस दुनिया में और कौन होसकता है ?

धीरे २ तरुण की सारी दुविधात्मक मनोदशा स्थिरता में परिणत होगई और प्रातः स्मरणीय व्याख्यान वाचस्पति श्री मज्जैनाचार्य विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी महाराज के कर कमल द्वारा भारत के राष्ट्रीय विक्रम संवत् १९९५ आसाढ़ शुक्ला ११ शुक्रवार को मरुधरा मारवाड के 'हूडली' गाव में तरुण का दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुआ और आचार्य देवेश ने उसका दीक्षाकालीन नाम रक्खा—'मुनि न्यायविजय'।

यही मुनि न्यायविजयजी हमारे इस जीवन चरित्र के आदर्श चरित्र-नायक हैं।

(२)

मुनि न्यायविजयजी का पूर्वनाम 'कन्हैयालाल' था। मे

अपने कुटुम्ब-सहित 'मालवा की बम्बई' 'इन्दौर नगरी' में र थे। इनका बालकाल खाचरोद में बीता और वहीं वि स १९४ पोष शुक्ला ३ मंगलवार को श्री रखबाजी जवाजी के प्रपौत्र कस्तूरचंदजी बोहरा (बड़े साथ ओसवाल) के यहां धूरीबाई पुनीत गोद में जन्म हुआ। कुछ समय बड़नगर भी ये रहे थे इनके दो भाई माणकचन्द और विमलचन्द तथा कमलाब नामक एक बहन थी जो अब भी मौजूद है।

मुनिजी ने बड़नगर में ही प्राथमिक हिन्दी शिक्षण प्राप्त किया तथा इन्दौर में पाचवी कक्षा तक पढ़े। सयोग से आपकी पूज्य माता १९८० वि में स्वर्गस्थ होगई। इस आकस्मिक वज्रपात से प्रत्येक परिचित का हृदय शोक से पानी पानी होगया। फिर आपकी तो वह माता ही थीं।

मातृ वियोग के आघात से आपका चित्त शिक्षा मार्ग से ऊब उठा और आप धीरे धीरे अर्थोपार्जन की ओर प्रवृत्त हुए। पहले अपने पिता को किराणे की दुकान पर काम करते रहे बाद में स्टेट-मील के फोल्डिंग-विभाग में कार्यारम्भ किया। एक वर्ष बाद वीविंग मशीन का काम सीखकर उसमें काफी उन्नति की। वहां दो लूम (मशीन) सचालित करने पर आपको ५० ५५ रु मासिक वेतन स्वरूप मिल जाते थे। दो तीन वर्ष बाद राजकुमार मिल इन्दौर में विविंग-मॉस्टर की शिक्षा भी पाई। समय समय पर

स्पेयर-जॉबर की बदली भी आपको मिलजाती थी।

एक दिन जब आप मिल में काम कर रहे थे, सहसा बड़े युरोपियन अफसर मि पल्डी निरीक्षण करते हुए उधर आ निकले आपकी कार्य पद्धति, उत्साह एवं लगन को देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए और आपको अपनी ओर से एक प्रमाण-पत्र दिया। आपके मिल-जीवन की यह एक अविस्मरणीय घटना है।

सारा मिल-परिवार आपसे पूर्णतया सन्तुष्ट और खुश था। सच है 'आप भले तो जग भला।'

मुनिजी को बचपन में ही धार्मिक-जीवन की धरोहर प्राप्त होगई थी। परन्तु सांसारिक बन्धनों ने उसे कुछ काल तक पनपने नहीं दिया।

इन्दौर के बाद उज्जैन, रतलाम और अहमदाबाद की मिलों में भी आपने काम किया और इस प्रकार जीवन की नपी-तुली पटरी पर चलते हुए, देखते ही देखते दस वर्ष निकल गए।

धर्म और सम्पत्ति में पूर्व और पश्चिम का अन्तर है। धनोपार्जन मनुष्य का अधिकाश जीवन नि श्रेय व्यतीत कर देता है। किन्तु धर्माराधना की बारी आते ही धनलोलुपों को आलस्य, श्रान्ति, सिर पीडा तथा न जाने कौन २ सी व्याधियां आकर घेर लेती हैं। कम ही स्त्री-पुरुष ऐसे होंगे जो द्रव्योपाजन के साथ २ धर्मोपासना (जप-तप, स्वाध्याय, ध्यानादि) भी निरन्तर करते हों

व्यापार व्यवसाय, स्त्री बच्चों का पालन पोषण, गृहस्थ-जीवन का गोरखधन्धा तथा माया मोह के चक्कर में फसकर धर्म ध्यान की किसको फुरसत है ?

किन्तु 'होनहार बिरवान के होत न चिकने पात।' महापुरुषों के भावी जीवन के कुछ चिन्ह प्रारम्भ में ही नयनगत होजाते हैं। सत्पात्र में सस्कृति और सन्मार्ग के अकुर फूटे बिना नहीं रहते।

सयोग से मुनिजी को महीदपुर वासी श्री पृथ्वीराजजी रूनवाल का सम्पर्क मिला। रूनवालजी ने आपको कई आध्यात्मिक तथा जीवन को उत्थान-मार्ग की ओर लेजाने वाली बातें बताई। साथ ही 'अध्यात्म कल्पद्रुम नामक पुस्तक का भी आपने अध्ययन किया। इससे आपको सांसारिक जीवन तथा दिनरात पैसा कमाना सर्वथ नीरस और अरुचिकर प्रतीत होने लगा। सोचने लगे-' नाशवान जीवन और क्षण भगुर विश्व का क्या ठिकाना ? इस मृग मरीचिका में जितना फँसे रहोगे उतना ही कष्ट पाओगे।"

धीरे २ आपके चरण अध्यात्म-मार्ग पर बढने लगे और एक दिन आप'कन्हैयालाल' से 'मुनि न्यायविजय कैसे होगये यह कथा हमारे पाठक जानते ही हैं।

चरित्र ग्रहण करने के बाद आपका प्रथम चातुर्मास बागरा (मारवाड) में गुरु सेवा में हुआ। इस अवधि में आपने साधु-पंच प्रतिक्रमण और श्री दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययन तथा

गोचरी (आहार) लाने की विधि सीखी।

चातुर्मासोपरान्त जब आचार्य देव विहार करते हुए सियाणा (मारवाड़) पधारे तब श्री संघ ने वृहद् दीक्षा महोत्सव के लिये गुरुदेव से सादर आग्रह किया। पूज्य आचार्य ने स्वीकृति प्रदान कर दी।

माघ शुक्ला पचमी के शुभ मुहूर्त में सियाणा श्री सघ ने भव्य समारोह पूर्वक दीक्षा महोत्सव प्रारम्भ किया। इसी महोत्सव में मुनि न्याय विजयजी की बड़ी बड़ी दीक्षा स पन्नहुई। दीक्षा के बाद भी आप गुरुदेव के पास ही धर्म का परायण करते रहे।

सवत १९९५, १९९६ और १९९७ के चातुर्मास गुरुदेवकी सेवा में क्रमश बागरा, भूति (मारवाड़) एवं जालोर (मारवाड़)में हुए जहाँ आपने 'सारस्वत व्याकरण पचतत्र काव्य, महाबल मलयासुन्दरी चरित्र तथा रूपसेन चरित्र व वर्धमान देशना का अध्ययन और वाचन किया।

चातुर्मास की समाप्तिपर बाछोदा श्रीसघ का एक शिष्ट मडल (डेपुटेशन) श्री केशरीमलजी वोहरा के नेतृत्व में जालौर आया और प्रतिष्ठा के लिये आचार्य देव से विनती की। पूज्य आचार्य ने आपको मुनिराज वल्लभ विजयजी तथा रग विजयजी के साथ मालवे भेजा। आप लम्बा विहार कर बाछोदा आये और माघ

शुक्ला १३ स १९९७ को बालोदा प्रतिष्ठा महोत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ।

तदनन्तर, आप रतलाम, सागोदिया, खलाघा, थादला, राणापुर, लक्ष्मणी तीर्थ, अली राजपुर ताळनपुर, नानपुरमें भ्रमण करते रहे। आपके साथ सागोदिया में नव दीक्षित मुनि श्री भक्तिविजयजी थे। मुनिराज वल्लभ विजयजी तथा रंगविजयजी रतलामसे ही वापस मरुधरा मारवाड़ लौट गये थे। वापस राणा पुर आने पर आपके सहचर मुनिश्री भक्तिविजयजी का स्वास्थ्य बिगड़ गया और व बालोदा में ही रह गये। अकेले होने पर भी श्रम आप किंचित् भी हताश न हुए और राणापुर स झाबुआ, मेघनगर और रभापुर गये। रभापुर में श्री राजेन्द्र कुन्थु जैन पाठशाला स्थापित की गई। वहाँ से थादला कुशलगढ़ परवलिया (पुरातन जैन मंदिर), अद्देश्वर-तीर्थ आदि स्थानों का विहार करते हुए गुरुदेव का आज्ञा से स १९९८ का चातुर्मास थादला किया। श्वेता मंदिर आम्नाय के मुनि का बीसवीं शती में वहाँ यह सर्व प्रथम चातुर्मास था।

इस चातुर्मास में आपने लक्ष्मीवल्लभी टीकायुत उत्तराध्ययन सूत्र और भावना अधिकार में संस्कृत पद्य श्री विक्रम चरित्र का वाचन किया तथा धर्मध्यान, अक्षयनिधि, तपाराधन, प्रभावना आदि से जन मन को प्रभावित और प्रसारित किया।

चातुर्मास सानंद सपन्न होने पर, आप खवासा पटलावद और झकनावदा आदि गाँवों में विचरते हुए राजगढ़ पधारे।

यहाँ पर आपने आचार्य देव श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिजी महाराज के आदेशानुसार राजगढ़ के समीपवर्ती मोहनखेड़े समाधि मन्दिर में श्री श्री श्री १००८ युग वीर श्री जैनाचार्य विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी माहाराज की मूर्ति की वि स० १९९८ मार्गशीर्ष शुक्ला १० को प्रतिष्ठा की, इस प्रतिष्ठा महोत्सवपर वर्षों का आपसी मनमुटाव एव दुसाध्य झगड़े थे अब हमेशा के लिए सम्प होगया। इस समय बाहरी–दूर दूर एव समीपवर्ती गाँवों के श्रावक श्राविकाओं का दर्शनीय सम्मेलन था।

पश्चात् राजगढ़ से भोपावर क दर्शन कर अमला आये यहाँपर—जुहारमलजी रतनलालजी की ओर से वि स १९९८ माघ शुक्ला ६ गुरुवार को श्री अष्टोत्तरी शाँति स्नात्र पजन पढ़ाई गई, इस उत्सव पर बड़नगर भी संघ की अच्छी उप–स्थिति हुई थी।

अमला से आप बड़नगर होकर खाचरोद पधारे मार्ग में बड़नगर स्टेशन पर आपके तीन जाहिर व्याख्यान हुए। उसमें श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्टेशन मास्टर एवं महा के व्यापारी आदि श्रोताओं की दर्शनीय उपस्थिति होती थी, साथ ही माता पिता को प्रतिदिन प्रणाम करना, परस्त्रात्याग, आदि प्रत्याख्यान का

श्रोताओं ने सराहनीय लाभ लिया।

इसी प्रकार खरसोद में भी श्री राजेन्द्र प्रार्थना दिवस बड़े सुन्दर ढग से सपन्न हुआ। उसमें बाहर से आये हुए दोसो तीनसौ धोबी एवं गाँव के राज्याधिकारी काश्तकार मंडली और जैन समाज ने शराब, माँस, परस्त्री त्याग और प्रतिदिन ॐ अर्हम के जप करने का प्रशसनीय लाभ लिया साथ ही ग्यारस, अमावस, पूर्णिमा को गाड़ी न जोतना, अक्ता पालना, और चतुर्दशी के दिन व्यापारियों ने बाजार बंद रखने का सर्वानुमत से लेख किया गया, और उसका सप्रेम पालन करते हैं।

पश्चात् खाचरोद में नवपद आराधन महोत्सव बड़े आदर्श ढग से सपन्न हुआ, इस महोत्सव पर—खरसोद-बड़ावदा, नागदा और उज्जैन आदि गावों के श्रावक-श्राविकाओं न बहुत अच्छी संख्या में नवपद ओली का लाभ लिया।

नवपद—आराधना के समय खरसोद (कलॉ) श्री सघ का विशेष आग्रह होने से आपको वापस खरसोद आना पड़ा, यहां पर स १९९९ ज्येष्ठ शुक्ला १० सोमवार के दिन अट्ठाई—महोत्सव सानद सम्पन्न होने पर शांति स्नात्र पूजन पढ़ाई गई।

पश्चात् आप अजड़ावदा होकर बड़नगर आये, यहा पर श्री महावीर जैन मडल के प्रबन्ध एव सुन्दरबाई मोदन की तरफ से अष्टोत्तरी शांति स्नात्र पूजन पढ़ाई गई। फिर आपने वि०

सं० १९९५ का चातुर्मास उज्जैन किया इस चातुर्मास के अंत गत श्रोताओं ने श्रीउत्तराध्ययन सूत्र-कमल संयमी टीका एव भावनाधिकार में संस्कृत पद्य विक्रम चरित्र का श्रवण और पचरंगी, अक्षय-निधि, नवपद आराधन-आदि पूजन-प्रभावना और श्री संघ भक्ति का सराहनीय लाभ लिया।

चातुर्मास सानंद सम्पन्न होने पर, आप मगसी पधारे इस समय उज्जैन से बहुत श्रावक-श्राविकाओं ने आपके साथ पैदल-यात्रा की एव बड़े समारोह से पूजन प्रभावना स्वामी-वात्सल्य का लाभ लिया।

पश्चात् आप मगसी से इन्दौर आये यहांपर चार माह तक मान्यवर न्याय काव्य तीर्थ प जवाहिरमलजी मनवाल के पास संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया। इधर मरुधर से मुनिराज श्री वल्लभविजयजी खाचरोद पधारे थे, अत ज्येष्ठ भ्राता को वंदन के लिए आप खाचरोद आये, और यहां पर श्रीशांतिनाथजीके मंदिर पर ध्वजादंड-कलशारोपण व श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की गुरु-मूर्ति की प्रतिष्ठा की। फिर आप खाचरोदसे मुनिश्रीवल्लभ,विजयजी केसाथ रतलाम आये, यहांपर करमदी, सागोदिया और बिबडोद की यात्रा का लाभ लिया। पश्चात् मुनिराज वल्लभविजयजी की अनुमति से वापस इन्दौर आये यहांपर श्री संघ ने नवपद-आराधना बड़े ही

उत्साह से की, साथ ही हिम्मतलाल एन्ड को०, सेठ धनराजजी की ओर से शांति स्नात्र पूजन पढ़ाई गई।

यहां पर पंडित जवाहिरमलजी का सुयोग एवं श्री संघ का विशेष आग्रह होने पर गुरुदेव श्री भद्रविजय यतीन्द्रसूरिजी महाराज की शुभ आज्ञानुसार वि. सं. २००२ का चातुर्मास इन्दौर किया व्याख्यान में श्रोताओं ने श्रीउत्तराध्ययन सूत्रजी, कमल संयम टीका एवं विक्रम चरित्र का श्रवण और तपश्चर्या आदि का अच्छा लाभ लिया।

इधर दो तीन माह से कुक्षी वाले सेठ धनराजजी का विशेष आग्रह था, अतः चातुर्मास संपन्न होने पर आप माडव—गढ़ की यात्रा कर मनावर से कुक्षी आये, यहांपर अट्ठाई—महोत्सव एवं शांति स्नात्र पूजन बड़े आदर्श ढंग से सानंद संपन्न हुई, साथ ही आपके सदुपदेश से सूरजबाई, हीराबाई ने सेठ चम्पालालजी की स्मृति में पाठशाला, जिन चैत्योद्धार, आदि में रु० १००००) दस हजार का दान किया।

कुक्षी से टांडा, लक्ष्मणी के दर्शन कर अलीराजपुर, नानपुर आदि गावों में विचरते हुए बाग आये, यहांपर देश—विरति महोत्सव सानंद सम्पन्न हुआ, जिसमें बीस श्रावक—श्राविकाओं ने सम्यक्त्व मूल—बारहव्रत और समकित मंत्र ग्रहण किया।

पश्चात बाग से बावनगजाजी (बड़वानी) का संघ निकला उसमें वयोवृद्धा गुरुणी प्रेमश्रीजी की शिष्या हीरश्रीजी, शुभ श्रीजी और लगभग सवासो श्रावक श्राविकाए थी, प्राय सभी ने पैदल यात्रा एवं पूजन प्रभावना आदि का अच्छा लाभ लिया।

बावनगजाजी से वापस लौटते समय कुक्षी में भीकाजी डूगरचदजी की तरफ से अठाई महोत्सव और शान्तिस्नात्र पूजन सानंद सपन्न हुई। फिर कुक्षी से बाग, टान्डा और रिंगनाद होकर राजगढ आये यहा पर चैत्री—नवपद आराधन महोत्सव बड़े ही समारोह से सानद सपन्न हुआ। राजगढ से दमाई, कड़ोद, कोद, विडवाळ और कानून आदि गावों में विचरते हुए, बदनावर आये। इस वर्ष आपका चातुर्मास राजगढ निश्चित होचुका था किन्तु बदनावर श्री संघ के विशेष आग्रह से मज-बूरन वि० स० २००१ का चातुर्मास बदनावर हुआ। इस चातु र्मास में प्रतिदिन अभिधान राजेन्द्रकोष तीसरा भाग और सस्कृत पद्य विक्रम चरित्र सुनने का एव महामंत्र-आराधना सप्ताह, अक्षयनिधि, अष्टमहासिद्धि, और नवपद आराधन का तो लाभ हुआ ही किन्तु साथ ही बीस साल का जाति वैमनस्य, आपसी मनमुटाव निरर्थक झगड़े थे सो सब हमेशा के लिये खत्म होगया।

चातुर्मास सानंद सम्पन्न होने पर आप राजोद, परमहल झावरिया आदि गावोंमें विचरते हुए,दसाई आये यहापर आचार्य देवेश श्रीमद्‌विजय यतीन्द्रसूरिजी महाराज की आज्ञानुसार वि० स० २००२ माघ शुक्ला १४ शनीवार को मन्दिरजी पर ध्वजादण्ड चढाया और अधिष्ठायक मूर्तियां एव कुक्षी से लाई हुई पूज्यपाद युगवीर आचार्य श्रीमद्‌विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की दिव्य मूर्ति की अजनशलाका बड़े ही समारोह से की, साथ ही इस समय कई वर्षो का जाति वैमनस्य,आपसी मन मुटाव था सो अब हमेशा के लिये सम्प होगया।

पश्चात आप राजगढ़ झकनावदा, समरकोट, कन्याणपुरा और मेघनगर आदि गावोंमें विचरतेहुए,रभापुर आये,यहापरश्रीसघ के विशेष आग्रह एव पूज्यपाद आचार्य महाराज श्री मद्‌विजय यतीन्द्रसूरिजी के आदेश से वि स २००२ फाल्गुन शुक्ला १२ शनिवार को मदिरजी पर ध्वजादण्ड चढाया व शाति स्नात्र पूजन पढ़ाई गई। प्रतिष्ठा महोत्सव सानद सपन्न होने पर आप थांदला, झाबुआ, पारा, रातापुर आदि गावों में विचरते हुए बदनावर होकर रतलाम आये, यहापर नवपद आराधन सानन्द सम्पन्न हुआ।

इस उत्सव पर जावरा श्रीसघ का विशेष आग्रह एव पूज्यपाद पात स्मरणीय युगवीर आचार्यदेवेश श्रीमद्‌विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज की क्रियोद्धारक पुण्यभूमि के दर्शनार्थ आप

जावरा आये, यहांपर श्री संघ की ओर से अठाई महोत्सव एव महेता मेरूलालजी की तरफ से शांति स्नात्र पूजन पढ़ाई गई, पश्चात जावरे से रोजाणे का संघ निकला उसमें साध्वी फूलश्रीजी मगनश्रीजी उत्तमश्रीजी लक्ष्मीश्रीजी और लगभग तीनसो श्रावक श्राविकाएं थीं, जिसमें अधिकतर पैदल यात्रियों ने बड़े उत्साह से रोजाणा और रिंगनोद तक दर्शन का लाभलिया साथ ही दोनों स्थान पर पूजन प्रभावना और स्वामीवात्सल्य का भी सराहनीय प्रबंध था। इस अवसर पर श्रीसंघ ने चातुर्मास के लिये भी बहुत ज्यादा आग्रह किया, एवं गत वर्ष भी आप जावरा संघ को स्वीकृति न दे सके थे, अतः आपने कहा कि "गुरुदेव की अनुमति आयगी तो अवसर है" बाद में बड़-छीया,नागदा, पीपलोदा आदि ग्रामों में विचरते हुए, उज्जैन आये। यहांपर पंद्रह दिन ठहरे, स्थानीयश्रीसंघ ने व्याख्यान, पौषध प्रतिक्रमण और व्रत नियमादि का अच्छा लाभ लिया।

पश्चात आप महिदपुर, आलोट, ताल आदि गांवों में विचरते हुए खाचरोद आये, यहांपर ज्येष्ठ भ्राता मुनि श्री वल्लभ—विजयजी के पास चार रोज ठहर कर गुरुदेव के आदेशानुसार जावरा तरफ बिहार किया, मार्ग में बड़ावदे में अठ्ठाई महोत्सव बड़े समारोह से सपन्न हुआ। साथ ही ठाकुर सा. गोरधनसिंहजी गिरधावर सा., वैद्यराजसा आदि श्रावक—श्राविकाओं ने व्याख्यान

ढंग से शांति स्नात्र पूजन पढाई गई। जिसमें जनाब सिकन्द खाजी की विशेष प्रेरणा से लाबरिया के निकटवर्ती सभी गांव में ढकका चलाया गया, और दूर दूर के भील भीलाळों कास्तकार आदि को बुलाकर श्री राजेन्द्र प्रार्थना दिवस बडे ही समारोह से मनाया, उसमें जनता ने शराब, माँस और शिकार आदि व्यसनों का त्याग एवं हर पूर्णिमा को दिनमें सिर्फ एक बार खा और रोटी खाने का नियम लिया।

पश्चात् लाबरिया से बरमखल, राजगढ, झाबुआ रानापुर आदि गाँवों में विचरते हुए, आप टान्डा आये वहाँ की सामाजिक-वर्तमान परिस्थिति देखकर आपको बड़ा खेद हुआ क्योंकि कहा तो भगवान महावीर का "मित्ती मे सव्व भूएसु" अलौकिक दिव्य सिद्धान्त और कहा टान्डे का दयनीय जैन समाज ! यहाँपर पन्द्रह वर्ष से धार्मिक एवं सामाजिक भयकर मनमुटाव था, जिसे मिटाने के लिये ग्वालियर गवर्नमेन्ट ने अपने समय का पूरा २ बलिदान दिया, साथ ही दूर दूर के प्रमुख सेठ साहूकार, पंच महाजन एवं कई त्यागी, तपस्वी साधु साध्वी भी इस महाभारत से अछूते न बच पाये, यह अहरीली टियर गेस प्रति वर्ष बढती ही जारही थी।

यदि इस मामले की मिस्लों की नकलें एवं आपस की जोरदार विचारणीय बातों की कहानी लिखने बैठें तो एक मोटा

कि
.ा पोया बनजाय, यदि किसी महानुभाव को पूरा हाल देखने
.ी इच्छा हो तो निम्न पते पर दखलें "छगनलालजी नहार
.ो टांडा (ग्वालियर स्टेट)" किन्तु श्री देवगुरु (श्रीमद्विजय
.तीन्द्रसूरिजी महाराज) धर्म के पसाय मुनिराज श्री न्याय
विजयजी के सदुपदेश से टान्डे में हमेशा के लिये संप होगया।

हा यह अवश्य कहना पड़ेगा कि सेठ छगनलालजी नहार
सेठ मिश्रीलालजी और सेठ पन्नालालजी एव टान्डे की समस्त
जैन जनता ने मुनिराज श्री न्यायविजयजी के उपदेश को वास्तव
में धन्यवादाऽर्ह शिरोधार्य किया। पश्चात आप टान्डे से रिंग
नोद होकर राजगढ़ आये, इस वर्ष वि स २००३ का चातुर्मास
मुनिराज श्री वल्लभविजयजी के साथ राजगढ़ में किया। किन्तु
समीप ही पाच माइल की दूरी पर रिंगनोद श्रीसघ का विशेष
आग्रह होने से आप श्रावण और भाद्रपद रिंगनोद रहे, स्थानीय
श्री सघ ने अष्ट महासिद्धि तप, अट्ठाइ आदि धर्म ध्यान का
अच्छा लाभ लिया।

उपसहारः—

व्या०वा० पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय आचार्य देव श्री श्री
श्री १००८श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराजके विशेष आशी
र्वाद एव अनुकम्पा से ही हमें इतने अल्प समय में मुनिराज श्री
न्यायविजयजी के इस प्रकार शासन-भक्ति, समाज सेवा, धर्मोन्नति

और साहित्य संपादन का सहयोग प्राप्त होसका । इसी प्रक गुरुदेव व अन्य मुनि मंडल की शुभ कृपा दृष्टि से आगे मैं मुनिवर श्री न्यायविजयजी से कुछ आश है । स्नेही पाठकों मुझे मुनिराज श्री न्यायविजयजी के वि स २००१ बदनाव चातुर्मास में बड़नगर, रतलाम, इन्दौर, उज्जैन, जावरा, मंदसौ नीमच, निम्बाहेड़ा बाग-टान्डा, कुक्षी आदि लगभग पचास सा गांवों से दर्शनार्थ आने वाले श्रावक-श्राविकाओं एवं सेठ पनालालजी टांडे वाले से यह परिचय प्राप्त हुआ है, अत मैं इन लोगोंका हृदय से आभारी हूँ, अनेक धन्यवाद "जैनं जयति शासनम्"

भवदीय—स्नेही

चम्पालाल जैन

परिचय भेजने का पता —

C/O शोभागमल चंपालाल पगारिया (काठेड़)

मु॰ पोस्ट—बदनावर (धार स्टेट)

चाय मत पीजिए !

(डा० वीर भरतीसिंह राणा)

चाय एक मादक अहितकर पेय है। मनुष्य शरीर को जिन चौदह द्रव्यों की आवश्यकता होती है उनमें से एक भी इसमें नहीं है। यह सम्पूर्ण विजातीय पेय है संसार के प्रसिद्ध विशेषज्ञों का कथन है कि चाय में निम्न पदार्थों के भी अंश जाते हैं।

(१) टैनीन (Taunin) १६ ४० प्र० श० से २७-१४ प्र० श० तक। (२) थाइन (Thine) २ २४ " ३-४२ प्रतिशत (३)सुगन्धित तेल (Essential-oil) ०-७९ से २-० प्रतिशत तक।।

प्रथम तथा द्वितीय पदार्थ एक प्रकार के विष और तृतीय पदार्थ एक प्रकार का सुगन्धित तेल जो नींद का सहारा देने का कार्य करता है इसमें पाये जाते हैं इसके बाद भी वैज्ञानिकों ने इसकी अधिक खोज की है और बतलाया है, कि चाय की पत्ती हरी या सूखी लेकर एक प्लेटिनमतार में लपेट कर बनसन फ्लेम में जलाया जाय तो उसमें से पीली लपटें निकलेंगी उस नीले रंग के चश्मे (शीशे) से देखने से बैंगनी (V[illegible]

साल्ट के लक्षण हैं। थोड़ी सी बनी हुई चाय (बिना दूध शक्कर के ले उसमें पेरिक क्लोराइड ५ ग्रेन मिलाने से काली स्याही की भांति रंग होजायगा। जिससे ज्ञात होता है कि इसमें टेनिक एसिड विष है। इसी प्रकार बनी हुई चाय में सग हाइड्रो क्लोरिक एसिड च न्द बिन्दु तथा एक टुकड़ा पोटेसियम क्लोरेट को मिलाए उसमें से क्लोरिन गैस की गन्ध निकलेगी जो इसमें केफिन विष का भी होना सिद्ध करता है। यह है सक्षेप में इसका रासायनिक विश्लेषण।

अनेक प्रसिद्ध डाक्टरों ने बतलाया है कि "चाय पीने में व प्रत्यक्ष विष पीने में कोई अन्तर नही। फिर भी आप प्रति दिन पीते हुए स्वय अपने स्वास्थ्य और अमूल्य जीवन को नष्ट रर रहे हैं। हानि के विचार से शराब और चाय एक ही थैली के चट्टे पट्टे हैं, अन्तर इतना है कि एक महगी और दूसरी सस्ती है। शराब, मदहोश बनाकर थोड़े समय के लिए दु ख हरती है, किन्तु चाय नींद को उड़ा देती है, अमूल्य जीवन तथा शरीर के स्वास्थ्य को नष्ट करने में यह शराब से अधिक भयंकर है क्यों कि यह उसमे सस्ती है इसका प्रचार स्थान स्थान पर है।

प्राय: जो महानुभाव चाय के अभ्यासी होते हैं उनकी क्षुधा नष्ट हो जाती है। चाय के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की की इच्छा नहीं रह जाती, उन व्यक्तियों को तब तक चाय का

प्याला नहीं मिल जाता, वे अपनी वास्तवि करिथिति में नहीं आ पाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि चाय पीने से उनकी इन्द्रियाँ चाय के विष क वशीभूवि हो हृदय का गति को निर्बल कर देती हैं, इसके बिना मन खिन्न, चिड़चिड़ा और मस्तिष्क कार्य रहित सा रहता है। इसका नशा लगभग शराब की भाँति ही है, क्योंकि जब चाय का प्रभाव शरीर पर नहीं रहता तो फिर चाय पीने की इच्छा उत्पन्न होजाती हैं। इसी प्रकार चाय का विष इन्द्रियों पर अप्रभावित प्रभाव डालकर स्फूर्ति पैदा करता है। परिणाम यह होता है कि शरीर की इन्द्रियाँ समय से पूर्व ही नष्ट होजाती हैं। भारत के प्रसिद्ध डा० गोपाल भास्कर गडबुल लिखते हैं कि कर्ण इन्द्रिय और अन्य ज्ञान इन्द्रियों पर इसका बहुत बुरा प्रभाव हाकर कुछ दिनों में पक्षाघात (लकवा) बहरापन आदि दिमाग रोग होते पाय जाते हैं और इसके प्रमाण भी हैं। फ्रान्स के प्रसिद्ध चिकित्सक ने कहा है कि जो व्यक्ति चाय पीते हैं उनके दिमाग की नशें निर्बल पड़ जाती हैं। और कानों से साँय की ध्वनि आने लगती है। स्त्रियाँ जो मनुष्यों की अपेक्षा निर्बल होती है वे चाय की अभ्यासी होकर प्राय ऐसे रोगों से अधिक ग्रस्त होजाती हैं।

डाक्टरों की सम्मति है कि चाय के सेवन करने से एक नवीन रोग यह उत्पन्न हुआ है कि पहले मस्तिष्क में एक प्रकार

का वेग उठता है चेहरे का रंग पीत वर्ण होता चला जाता है किन्तु चाय का पीने वाला उसकी चिन्ता नहीं करता है। कुछ समय के पश्चात् आँतरिक तथा बाह्य कष्ट प्रकट होने लग जाते हैं। चित्त (मिज़ाज) शुष्क और मुखाकृति अधिक पीत-वर्ण होजाती है। एक अन्य रोग जिसे थाइरम कहते हैं जिसमें एक प्रकारकी कठिन मूर्छा आँतरिक इन्द्रियों के कार्य शिथिल, हाथ में कम्प और पाचन यन्त्र में पीड़ा हाजाती है जिसका फल यह होता है कि स्वभाविक शिथिलता प्रकट होने लगती है। चाय का विष मूत्राशय (Bladder) पर आमाकृतिक प्रभाव डालकर उसकी मूत्र रोक रखने की शक्ति कम कर देता है। जिससे उन्हें अधिक काम करते हुए बार-बार मूत्र त्याग करना पड़ता है और आग जलकर मूत्र में मूत्राम्ल (Uric Acid) कैल्शियम आक्जैलट तथा अंडलाल (Albumen) आदि जान लग जाते हैं जिससे अनेक मूत्र सम्बन्धी पीड़ायें उत्पन्न होजाती है।

मद्य सेवियों के भाँति चाय पान वाले अपने कष्ट की चिकित्सा चाय को ही समझा करते हैं। परिणाम यह होता है कि रोग वृद्धि होती जाती है। डा० बमार्ड ने बहुत से रोगियों की परीक्षा करके ये बातें सिद्ध की है कि चाय का विष शरीर में एकत्रित होता रहता है और नवयुवकों तथा दुर्बल शरीर वालों पर इसका बहुत हानिकर प्रभाव होता है। इसके सेवन से-

इसके विष युक्त प्रभाव के अनेक लक्षण—जैसे क्षुधा का नष्ट होना पाचन विकार, कोष्ट बद्धता, हृदय धड़कन, हृदय स्थान पर पीड़ा, जी मचलाना, कै, मुर्छा, दर्द, गठिया, वाय आदि रोग होजाते हैं। चाय का जो प्रचार भारत में किया जारहा है, यह इसी प्रकार है जैसे चीन में अफीम का किया गया था। स्वास्थ्य का महत्त्व समझने वाले हर एक विचार शील व्यक्ति को इस हानिकारक पेय से बचने के लिए सावधान होना चाहिये जिन्हें आदत पड़गई है और नहीं छोड़ सकते वे तुलसी, बनफसा अदरख, मुनक्का माझो, चकन, जैसी लाभदायक औषधियों को पानी में उबाल कर चाय का काम ले सकते हैं।



अनमोल रत्न

[१] भोजन के संबंध में निम्न बातों का ध्यान रखो— (१) भूख से कम खाओ, पेट को आधा भोजन से भरो, आधे को हवा और पानी के लिये खाली रहने दो (२) हर ग्रास को खूब चबा चबा कर खाओ (३) सारे दिन बकरी की तरह मुँह मत चलाते रहो, दो बार नियत समय पर भोजन करो, प्रातःकाल किसी पतली हलकी चीज का कलेवा कर सकते हो (४) भोजन को रुचि और प्रसन्नता पूर्वक खाओ (५) बासी रखी हुई चीजें मिठाई, खटाई तथा मसाले पड़ी हुई उत्तेजक चीजों से बचो सादा, हलका, ताजा, रसीला भोजन करो (६) भोजन में स्वाद का नहीं स्वास्थ्य का ध्यान रखो।

[२] शरीर से नित्य उचित परिश्रम करो। न तो इतने आराम तलब बनो कि सुस्ती और शिथिलता आ जाय और न इतनी मेहनत करो कि शक्तियों का अत्यधिक खर्च होजाने से क्षीणता आ जाय।

[३] इन्द्रिय भोगों में इतने लिप्त न होओ कि मन काबू से बाहर होजाय और बलवीर्य का अधिक भाग उन्हीं में नष्ट होने लगे।

[४] हर महीने एक दो उपवास करो उस दिन निराहार रह कर खूब पानी पीना चाहिये। यदि निराहार न रहा जासके तो थोड़ा दूध या फल ले कर एकाशना कर सकते हो।

[५] सफाई का पूरा ध्यान रखो। नाखुन, बाल, दांत, नाक, कान, साफ रखो। नित्य शरीर को खूब रगड़ रगड़ कर स्नान करो कपड़े धुले हुए साफ रखो।

[६] मलमूत्र त्यागने में आलस्य न करो।

[७] रात को जल्दी सोओ, प्रातःकाल जल्दी उठो। पूरी और गहरी नींद लेने का प्रयत्न करो।

[८] सदा प्रसन्न रहने की आदत डालो। हर घड़ी मुस्कराते रहने का स्वभाव बनाओ।

[९] सबसे नम्रता और मधुरता के साथ बात करो। निष्ठुर, रूखी और कडुई बात कभी मुँह से मत निकालो।

[१०] गाली या अपशब्द या उपहास द्वारा किसी को चिढ़ाने की भूल कभी मत करो। अपना मतभेद और विरोध स्पष्ट एवं खरे शब्दों में प्रकट करते हुए भी नम्रता और सुजनता को हाथ से मत जाने दो।

[११] समय को अमूल्य समझो अपनी एक एक मिनिट का सदुपयोग करने की फिक्र में रहो, समय एक अमूल्य सम्पत्ति है इसका खर्च करते हुए पूरी २ सावधानी रखो।

[१२] ऐसी चीज जिसके बिना आसानी से काम चल सकता है, सस्ती मिल रही हो तब भी मत खरीदो।

[१३] फैशन परस्ती से बचो। अपना रहन सहन सादा और सीधा रखो। सफाई और सादगी अपने ढंग की सबसे बढ़िया फैशन है।

[१४] आमदनी से खर्च कम करो, जहाँ तक बन पड़े कर्ज मत लो, यदि लेना पड़े तो उसे जल्द से जल्द चुकाने का प्रयत्न करो।

[१५] कृतज्ञ बनो। दूसरे के द्वारा अपने ऊपर जो उपकार हुए हैं उनका धन्यवाद सहित प्रकट करते रहो और उनका बदला चुकाने की फिक्र में रहो।

[१६] सच्चे मित्रों की संख्या बढ़ाओ। ऊँचे और अच्छे लोगों के सम्पर्क में रहो। अच्छे वातावरण में प्रवेश करो।

[१७] जैसे बनना चाहते हो वैसे ही लोगों के समीप, वैसी ही परिस्थितियों के दायरे में अपने को लेजाओ।

[१८] अपना ज्ञान बढ़ाने के लिये निरंतर प्रयत्न शील रहो। "क्यों ?" और "कैसे ?" की कसौटी पर हर एक बात को परखो। दूसरों से पूछने में झिझक मत करो। मनन चिन्तन, और विश्लेषण करने की आदत डालो। 'अधिक जानने' की साधना में अपने को प्रवृत्त रखो।

❀ नमो वीतरागाय ❀

मार्गानुसारी ३५ गुण विवरण

[हिन्दी विवेचन सहित]

—मंगला चरण—

नत्वा जिनेशं स्वगुरुं दयालु, समस्तशास्त्रार्णवपोतकल्पम् ।
गुणावकस्याहमथोहि वक्ष्ये, श्रीपंचत्रिंशद्गुणशोभीधर्मम् ॥१
श्वेताम्बरा श्वेत सरोजहस्ता, वाणीधरा निर्जर सेव्यमाना
मरालवाहो परिराजमाना, वाणी सदायच्छतु वाञ्छितं वः ॥२

'धर्म' शब्द धृ धातु से मन् प्रत्यय करने पर बनता है जिसका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ धारण करना होता है। जैसे (धरती धारयति वा विश्वमिति धर्मं ध्रियते सन्मार्गनया लोकै रिति वा धर्म अर्थात् धर्म ही सब प्रजा-संसार का धारण करने वाला है, जो धारणा से युक्त है वही धर्म है, यह इसका निश्चित अर्थ है। शास्त्रकार ने कहा है कि —



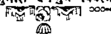
धारणाद्धर्म मित्या हु धर्मो धारयते प्रजा ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चय ॥

अर्थात् ऋषि मुनियों ने धारणा करने वाला होने के कारण इसे धर्म कहा है। धर्म प्रजा का धारण करता है जो धारण गुण स सयु [illegible] । निर्नि [illegible] प स धर्म कहलाता है। अर्थात — "[illegible] पतनात् धारयतीति धर्म" जो दुर्गति में पड़ते हुए प्राणियों का उद्धारकर सुगति का और प्रवृत करे उसे धर्म कहते हैं। अहिंसा सयम और तप ये तीन धर्म के मुख्य अग हैं। इनका आचरण करने वाला मनुष्य मगलमय बनजाता है और यहा तक कि वह देवों का वन्दनीय बनजाता है ऐसे धर्म के लिये बारह विशेषण दिये गये हैं। वे इस तरह हैं —

१ मगलकमलाकेलिनिकेतन धर्म मगल रूप लक्ष्मी का, क्रीडा स्थान है अर्थात धर्म सदा मगल रूप है और जहा धर्म होता है वहा सदा आनंद रहता है। २ करुणा केतन- सबजीवों पर दया करना, मरते हुए प्राणी को अभय दान देना यही धर्म का का तत्त्व है। धर्म रूपी मंदिर पर करुणा का सफेद झडा सदा फहराता है। जो प्राणी धर्म रूपी मंदिर म प्रविष्ट होजाता है वह सदा के लिये निर्भय बनजाता है। ३ धीर अविचलित और अक्षुब्ध होने के कारण समुद्र को धीर की उपमा दी जाती है। इसी प्रकार अविचलित और अक्षुब्ध होने के कारण धर्म के लिये भी धीर विशेषण दिया जाता है। धर्म को धारण करने वाले पुरुषों म परोपकार परायणता, स्थिरचित्तता, विवेकशीलता और विचक्षणता आदि गुण प्रकट होते हैं ४ शिवसुख साधन [illegible]

अक्षय और अव्याबाध सुख रूप मोक्ष को देनेवाला धर्म ही है अर्थात् धर्म की यथावत् साधना करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है भव भय नाशन जन्म जरा और मरण के भयों से मुक्त कराने वाला एक धर्म ही है। जो धर्म की शरण में चला जाता है उसे सयोग वियोग रूपी दुखों से दुखी नहीं होना पड़ता धर्म स्थित पुरुष ससार के सब भयों से मुक्त होकर तथा ससार चक्र को अन्त कर मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है ६ जगत्‌ आधार धर्म तीनों लोक में प्राणियों के लिये आश्रय एव आधार रूप है धर्म का आश्रय लेने वाले प्राणी को कभी निराश नहीं होना पड़ता। अत धर्म के लिये शरणागत वत्सल विशेषण भी लगाया जाता है। जिस पुरुष का किसी का आश्रय एव आधार नहीं और आश्रय के लिये सारी दिशाएं शून्य प्रतीत होती हो, उसके लिये धर्म आश्रय रूप है और धर्म रूप मदिर का दरवाजा खुला हुआ है ७ गभीर धर्म समुद्र जैसा गभीर सब प्राणियों का रक्षक पालक पोषक है। ८ देवासुरनरपूजिताशासन चारों प्रकार के देव अर्थात् भुवनपति वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक एव मनुष्यों द्वारा धर्म पूज्य है। सब देव असुर और मनुष्य धर्म को पूज्य समझकर वन्दना नमस्कार करते हैं। ९ सर्व तत्त्वनवनीत धर्म सब शास्त्रों का सार रूप होने से सर्व तत्त्व नवनीत मक्खन कहलाता है। १० सनातन धर्म त्रिकालाबाधित अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान में सदा विद्यमान होने के कारण सनातन कहलाता है। ११ सिद्धि सदन सोपान-महल पर चढ़ने के लिये जिस प्रकार सोपान सीढ़ी सहायक होती है उसी प्रकार मोक्ष

रूपी महल में पहुँचने के लिये धर्म रूप सोपान है। 14 गुणस्थान रूपी 14 सीढ़ियां हैं जिन पर क्रमशः चढ़ते हुए सयोगी और अयोगी अवस्था को प्राप्तकर मोक्ष रूपी महल में पहुँच जाता है। 12 प्रतिलिखित शान्त सुधारसपान-धर्म सम्यक् आराधना करने वाले पुरुष को शान्त सुधारस का पान कराने वाला है। इस प्रकार संसार में प्राणी मात्र को सब तरह के सुख पहुँचाने वाले सभी सांसारिक पदार्थों का उत्पादक धर्म ही है। धर्म ही के प्रताप से मनुष्य इस लोक तथा परलोक में सब सुख का भोक्ता तथा संसार की दृष्टि में आदरणीय बनता है। धार्मिक भाव ही केवल मनुष्य जाति की पहिचान के लक्षण हैं जिस मनुष्य में धर्म के लक्षण नहीं पाये जाते, वह बिना सींग और पूँछ का पशु है, क्योंकि मनुष्यों और पशुओं में केवल धर्म का ही भेद होता है। धर्म ही मनुष्य मात्र के सर्वोन्नति का मूल कारण है। धर्म ही से मनुष्य अपनी शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक उन्नति करने में सफल होता है। धर्म के प्रभाव से ही मनुष्य का श्रेष्ठकुल में जन्म होता है, उसके शरीर की सुन्दरता, सौभाग्य और आयु तथा बल की वृद्धि भी धर्म के ही प्रताप से होती है। मनुष्य मात्र को धर्म से ही निर्मल यश, विद्या धन और तरह २ की सम्पत्तियां प्राप्त होती हैं बड़े २ बीहड़ जंगलों में घन घोर युद्धों में उत्ताल तरंगों से लहराते हुए रौद्ररस (भयानक) समुद्र में तथा गगन स्पर्शी पर्वत मालाओं में उत्पन्न होने वाले भयों से यदि कोई संसार में मनुष्य की रक्षा करने वाला है तो वह एक धर्म ही है। भली प्रकार आराधना किया हुआ धर्म ही मनुष्य को स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष)



दन वाला है। अतः जो मनुष्य धर्म से विमुख है वह शक्तिमान् होते हुए भी अशक्त है। धनवान होते हुए भी निर्धन है और विद्वान् होते हुए भी मूर्ख है कारण कि धर्म ही सर्व सुखों का दाता और मनुष्य मात्र का पूर्ण हितैषी है।

यद्यपि धर्म अनन्त प्रकार का होसकता है तथापि यहां पर इन चार भेदों की प्रधानता जाननी चाहिये।

दाण सीलंच तवो भावो, एव चउव्विह धम्म।
सव्व जिणेहिं भणिओ तहा दुय सुय चारित्तेहिं।
अभिधान राजेन्द्र कोष भाग ४ पृष्ठ २२८

दान-स्व और पर के उपकार के लिये अर्थी अर्थात् जरूरत वाले पुरुष को दिया जाता है। वह दान कहलाता है। अभय दान, सुपात्र दान, अनुकम्पा दान ज्ञानदान आदि दान के भेद हैं। इन का पालन करना दान धर्म कहलाता है। दान के प्रभाव से धन्नाजी और शालिभद्रजी ने अखूट लक्ष्मी पाई और अनेक तरह के भोगों का आस्वादन किया। शालिभद्रजी सर्वार्थ सिद्ध से च्यवकर मोक्ष प्राप्त करेंगे और धन्नाजी तो सिद्धि पद प्राप्त कर चुके हैं। इस लिये प्रत्येक व्यक्ति को उनके जीवन का मन्थन करने से अच्छी तरह विश्वास होजायगा कि सुपात्र दान धर्म के सेवन करने से मनुष्य सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है।

शील ब्रह्मचर्य—दिव्य एवं औदारिक कामों का तीन करण और तीन योग से त्याग करना शील है। अथवा मैथुन का त्याग कर शील का पालन करना शील धर्म है। शील सर्व विरति रूप से दो प्रकार का है। देव मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का सर्वथा तीन करण और तीन योग से त्याग करना सर्व विरति

शील है। स्वदार संतोष और पर स्त्री विवर्जन रूप ब्रह्मचर्य ए
दश शील है।

ब्रह्मचर्य के प्रताप स सेठ सुदर्शन की वह शूलशूली सिंहास
परिवर्तन हो गई महान सती कलावती के कटे हुए हाथ नवा
उत्पन्न होगये। इस लिय शुद्ध शील का पालन करना चाहिये।

तप—जो आठ प्रकार क कर्मो एव शरीर की सात धातुओ
को जलाता है वह तप है बाह्य और अभ्यन्तर रूप से दो प्रका
का है। अनशन, ऊनोदरी भिक्षाचर्या, रसपरित्याग कायक्लेश औ
प्रतिसलीनता य ६ बाह्य तप हैं। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य स्वाध्य
य ध्यान, और व्युत्सर्ग य ६ आभ्यन्तर तप हैं। तप के प्रभाव
धन्नाजी, दृढप्रहारी हरिकेश मुनि और ढढण ऋषिजी प्रमु
मुनिश्वरो ने सकल कर्मो का क्षय कर सिद्ध पद को प्राप्त किय
इस लिये तप का सेवन करना चाहिये।

भावना—मोक्षाभिलाषी आत्मा अशुभभावो को दूरकर शुभ भा
म लगाने के लिये जो ससार की अनित्यतादि १२ भावनाओ
विचार करता है वही भावना है। इन बारह भावना के सिवा
मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ ये भी चार भावनाएँ हैं। व्र
का निर्मलता स पालन करने के लिये, व्रतो की पृथक् २ भावना
बतलाई गई हैं। मन को एकाग्र कर इन शुभ भावनाओ म लगादे
ही भावना धर्म है।

भावना के प्रभावसे मरुदेवी माता भरत चक्रवर्ती, प्रसन
चन्द्रराजर्षि, इलायची कुमार, कपिलमुनि, स्कन्धकमुनि, अनाथिमु
प्रमुख केवल ज्ञान प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हुए।



धर्म ही मनुष्यों के कल्याण प्राप्ति का तथा जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने का मुख्य साधन है। धर्म से बढकर संसार में कोई दूसरा सच्चा मित्र नहीं है। कहा भी है

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयातिय ।
शरीरेण समं नाशं सर्वं मं यतु गच्छति ७७॥

अर्थात् इस संसार में केवल धर्म ही मनुष्यों का परमोपकारक सच्चा मित्र है, जो मनुष्य के मरने पर भी उसका साथ नहीं छोडता, बाकी के सभी पदार्थ शरीर के साथ ही नष्ट होजाते हैं।

मनुष्य के रोगाक्रान्त होनेपर जब उसकी सारी शक्तियें कुण्ठित होजाती हैं, और शारीरिक मानसिक और आत्मिक आधि व्याधियों से जब वह कंठ रुकजाने के कारण कह कर प्रकट नहीं कर सकता, अशक्त होने के कारण संकेत द्वारा भी नहीं समझा सकता तब वह मृत्यु के मुंह में फसा हुआ अपने को असहाय समझ कर कातर दृष्टि से दसों दिशाओं की ओर आखें फाड़-फाड़ कर देखता है, घबराता है, और अपने किये पर मन ही मन पछताता है। उस वक्त उसका अर्जन किया हुआ धर्म उसके सामने उपस्थित होता है, आश्वासन देता है और कहता है कि "हे भो! तुम्हारा यह धन तुम्हारे ये पशु, तुम्हारी यह स्त्री, तुम्हारे ये कुटुम्बी और तुम्हारा यह शरीर जिनपर तुम अपना एकाधिपत्य राज्य समझते थे जिनका तुम्हें गर्व था जिन्हें तुम प्राणों से भी प्रिय समझते थे वे ही आज तुम्हारी रक्षा करने में, सहायता करने में और तुम्हारे साथ चलने में असमर्थ हैं। अगर कोई इस समय तुम्हारे साथ चलने में समर्थ है तो वह मैं



ही हैं। मैं ही तुम्हारा चिर काल का साथी तुम्हारा सहायक और सब प्रकार की यातनाओं से बचानेवाला हूँ

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, भार्या गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

जब प्राणी मरता है तब उसका धन पृथ्वी में ही गडा रह जाता है, पशु बाडों में ही बंधे रहजाते हैं विवाहिता स्त्री घर व द्वार तक ही साथ आती है और अधिक क्या कहें जिस शरीर को हम अच्छे २ पौष्टिक और स्वादिष्ट पदार्थों द्वारा पोषण करके हृष्ट पुष्ट बनाते हैं, वह शरीर भी मृत प्राणी का चिता तक ही साथ देता है। कुटुम्बी लोग जिनके भरण पोषण के लिये वह अशुभ कर्म करने में भी न हिचकिचाता था वे भी श्मशान तक ही साथ में आपाते हैं। केवल अकेले धर्म से ही अनुगम्य मान जीव परलोक में जाता है, अर्थात् अकेला धर्म ही मृत प्राणी के साथ जाता है दूसरा कोई नहीं।

इसलिये मनुष्य मात्र का यह कर्तव्य है कि वह सुख देने वाले भय से रक्षा करने वाले, उभय लोक के साथी धर्म को काम के वश होकर, भयभीत होकर, अर्थ लोलुप होकर तथा जीवन के हेतु भी न छोडे, क्योंकि धर्म नित्य और सुख दुःख अनित्य है जीव नित्य और उसके हेतु (शरीर)अनित्य है।

जिस समाज में अपने धर्म के लिये श्रद्धा नहीं है, जिस समाज के व्यक्तित्व हृदय रक्त में धार्मिक बल की बिजली नहीं दौडती। जो समाज अपने धर्म के नाम पर मर मिटने को तैयार



नहीं है वह समाज आज या कल विलीन हुए विना नहीं रह सकता, क्योंकि धार्मिकबल ही सामाजिकजीवन का मुख्य आश्रय है अत उसकी कमी हुई और सामाजिक जीवन ह्रास हुआ। अतएव जो समाज ससार में अपना अस्तित्व कायम रखना चाहता है उसे चाहिये कि वह अपने धर्म को सुरक्षित रक्खे और वह अपने में धार्मिक बल जागृति बनाये रखने के लिये धर्मार्जन करने का शास्त्रानुसार प्रयास करे क्योंकि —

सुकुल जन्म विभूतिर नेकधा,
प्रिय समागम सौख्य परपरा।
नृपकुले गुरुता विमल यशो
भवति धर्मतरोः फलमीदृशम्॥

अथात्—अच्छे कुल में उत्पत्ति, अनेक प्रकार के ऐश्वर्य, अपने प्रिय जनों का समागम, सब प्रकार के सुख, राज सम्मान, निर्मल यश, ये सब धर्म रूपी वृक्ष के ही अमृतोपम फल हैं जिन्हे पाकर मनुष्य 'मनुष्य' कहलाता है और समस्त ससार में वह आदर की दृष्टि से देखा जाता है। केवल इतना ही नहीं हमारे पूर्वाचार्यों ने स्वनिर्मित शास्त्रों में गृहस्थ धर्म (श्रावक धर्म) को क्रम से मोक्ष का कारण माना है। वे अपने पक्ष का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि।

स्वकर्मधर्मार्जितजीविताना,
स्वेष्वेवदारेषु सदारतानाम्।
जितेन्द्रियाणामतिथि प्रियाणा,
गृहेऽपि मोक्षः पुरुषोत्तमानाम्॥



जो गृहस्थ धर्म और न्याय पूर्वक किये हुए कार्यों मे ही अपनी आजीविका का उपार्जन करते हैं जो अपनी स्त्री से ही प्रेम करते हैं। जो अपनी दुर्मद इन्द्रिया को वश में रखते हैं तथा अपने घर पर आये हुए अतिथिओं का सफलता पूर्वक सत्कार करते हैं ऐसे उत्तम पुरुषों के घर में ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि संसार में श्रावक धर्म भी मोक्ष का कारण होने से कल्पवृक्ष चिन्तामणि और काम धेनु आदि के तुल्य है, अतः श्रावक धर्म का उपदेश धर्म प्रेमी योग्य अधिकारी वर्ग को ही देना चाहिये। शास्त्रकारों ने गुरु आदि पुरुषों का सेवा शुश्रूषा करने वाले को ही विनित माना है विनय से ही मनुष्य पात्रता को प्राप्त करता वही धर्म का योग्य अधिकारी रहा हुआ है इस प्रकार के योग्य पुरुष के शास्त्रकार ने ११ लक्षण बताए हैं।

१—विनीत शिष्य नीचवृत्ति—नम्रप्रकृतिवाला होता है अर्थात् गुरु आदि के सामने नम्र कर रहता है,नीचे आसन पर बैठ हाथ जोड़कर धर्म श्रवण करता है। २—प्रारम्भ किये हुए काम को नहीं छोड़ता चपलता नहीं करता सभी कार्यों को योग्य रीति से करता है, किसी प्रकार की शारीरिक चेष्टा नहीं करता, असत्य कठोर और अप्रिय एवं अविचारित वचन नहीं बोलता, एक काम को पूरा किये बिना दूसरा काम शुरु नहीं करता। ३—आमायी-सरल होता है गुरुआदि से छल कपट मय व्यवहार नहीं करता। ४—अकुतूहली अर्थात् क्रीड़ा से सदा दूर रहता है, खेल तमासे आदि देखने की लालसा नहीं करता।



(५) विनीत आत्मा अपनी छोटीसी भूल को दूर करने को कोशिश करता है वह किसी का अपमान नहीं करता। ६—वह क्रोध नहीं करता तथा क्रोधोत्पत्ति के कारणों से भी सदा दूर रहता है। ७—मित्रका प्रत्युपकार करता है अर्थात् अपने साथ किये हुए उपकार का बदला चुकाता है वह कभी कृतघ्न नहीं बनता। ८—विद्या पढ़कर अभिमान नहीं करता किन्तु जैसे फलों के आने पर वृक्ष नीचे को ओर झुकजाता है उसी प्रकार विद्यारुपी फल को प्राप्त कर वह नम्र बन जाता है। ९—किसी समय आचार्यादि द्वारा किसी प्रकार की स्खलना गल्ती हो जाने पर उनका तिरस्कार तथा अपमान नहीं करता अथवा वह पापको उपेक्षा नहीं करता। १०—बड़े से बड़ा अपराध होने पर भी कृतज्ञता के कारण मित्रा पर क्रोध नहीं करता। ११—अप्रिय मित्र का भी पीठ पीछे दोष प्रकट नहीं करता अर्थात् जिसके साथ एकवार मित्रता करली है, यद्यपि वह इस समय सैकड़ों अप-कार भी कर रहा हो, तथापि उसके पहले के उपकार का स्मरण कर उसके दोष प्रगट नहीं करता अपितु उसके लिये भी कल्याण कारी वचन ही कहता है। १२—कलह झगट और लड़ाई से सदा दूर रहता है। १३—कुलीनपने को नही छोड़ता अर्थात् अपने हस्तगत कार्य को नहीं छोड़ता। १४—विनीत योग्य पात्र ज्ञानवान् होता है किसी समय बुरे विचार के आजाने पर भी वह कुकार्य में प्रवृत्ति नहीं करता। १५—विना कारण गुरु के निकट या दूसरी जगह इधर उधर नहीं घूमता फिरता।

अयोग्य अधिकारी को नहीं क्यों कि योग्य अधिकारी ही उसे प्राप्त करके अपना तथा पराया अभ्युदय करने के

साथ साथ मात्राधिकारी बन सकता है। अयोग्य अधिकारी के पास पहुँचते ही धर्म अधर्म, गुण अवगुण और अमृत विष हो जाता है अत उसे धर्मोपदेश नहीं देना चाहिये।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध मुसल्मान कवि अब्दुररहीम खानखान पात्र और कुपात्र का विचार करते हुए लिखते है कि

मुक्ता कर कर्पूर कर चातक तृष हर सोय।
एतो बड़ो रहीम जल व्याल परै विष होय॥

अर्थात् जो जल सीप के मुह में गिरने से मोती, कदले के गर्भ में गिरने से कर्पूर और पपाहे के मुह में गिरने से उसको प्यास बुझाने वाला होता है वही अमृत तुल्य जल साप के मुह में गिरने से भयंकर विष होजाता है अत धर्मोपदेशकों को चाहिये कि वे सर्व प्रथम पात्रापात्र का विचार कर धर्म का उपदेश करें क्यों कि अयोग्य अधिकारी को दिया हुआ धर्मोपदेश भस्म में होमे हुए घी के समान व्यर्थ जाता है।

जो व्यक्ति उपदेश या धर्म शिक्षा ग्रहण करना चाहता हो, उसमें नीचे लिखे आठ गुण होने चाहिये और शास्त्रकारों ने ऐसे व्यक्ति को धर्मोपदेश के योग्य बतलाया है।

१ शांति-वह व्यक्ति हास्य क्रीड़ा न करे हमेशा शांत चित्त से उपदेश ग्रहण करे। २ इंद्रिय दमन-जो मनुष्य इन्द्रियों के विषय में गृद्ध रहता है वह धर्म शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये धर्मार्थी को इंद्रियों का दमन करना चाहिये। ३ स्वदोष दृष्टि-वह व्यक्ति हमेशा अपने दोषों को दूर करने में यत्नकरे दूसरेके दोषोंकी तरफ ध्यान न देकर गुण ही ग्रहण करे

४ सदाचार—अच्छे चाल चलन वाला होना चाहिये। ५ ब्रह्मचर्य यह व्यक्ति पूर्ण या मर्यादित ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला हो। ६ अनासक्ति—विषयों में अनासक्त होना चाहिये, इन्द्रिय लोलुप नहीं होना चाहिये। ७ सत्याग्रह—हमेशा सत्य बात को स्वीकार करने के लिये तय्यार रहना चाहिये। ८ सहिष्णुता—सहनशील और धैर्य्य वाला होना चाहिये क्रोधी नहीं होना चाहिये। श्री उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ११ गाथा ४ ५।

अतएव योग्य और अयोग्य की परिक्षा करलेने पर भी सर्व प्रथम योग्य प्राणी कोभी साधारण धर्मका ही उपदेश करना चाहिये और तदनन्तर द्वादश व्रतादिरूप विशेष श्रावक धर्म का सम्यक्तया उपदेश करना ही समाचीन होगा क्यों कि जिस प्रकार दिवाल पर पहिले सफेदा किये बिना चित्रित किया हुआ चित्र शोभा नहीं देता जिस प्रकार प्रथम प्रक्षालन करके स्वच्छ किये बिना वस्त्र पर चढाया हुआ रंग सुन्दर प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार प्रथम में पहिले हल जातकर जमीन का खाद और सुकोमल बनाये बिना बीज बोना फल दायक नहीं होता, उसी प्रकार प्रथम सामान्य (साधारण) धर्म के उपदेश बिना विशेष धर्म योग्य अधिकारी के लिये भी किसी दशा में उपकारी और फल दायक सिद्ध नहीं होसकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि सर्व प्रथम साधारण धर्म का उपदेश ही योग्य अधिकारी के लिये विशेष लाभ दायक है।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य ने भी परमार्हत महाश्रावक कुमारपाल नरेश को सर्व प्रथम निम्न लिखित पञ्चत्रिंश-

द्गुण विभूषित सामान्य धर्म का ही उपदेश दिया था जो इस प्रकार है —

न्याय सम्पन्नविभव, । शिष्टाचारप्रशंसक, ।
कुलशीलसमै साधं, कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रज ॥ १ ॥
पापभीरुःप्रसिद्ध च, देशाचार समाचरन्।
अवर्णवादि न क्वापि, राजादिषु विशेषतः ॥ २ ॥
अनतिव्यक्त गुप्ते च, स्थाने सुप्रातिवेश्मिके ।
अनेकनिर्गमद्वार, विवर्जितनिकेतन ॥ ३ ॥
कृतसंग सदाचारै, मातापित्रोश्च पूजक ।
त्यजन्नुपप्लुत स्थान मप्रवृत्तश्च गर्हित ॥ ४ ॥
व्ययमायोचित कुर्वन्, वेषं वित्तानुसारत. ।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्त ,शृण्वानो धर्ममन्वहम् ॥ ५ ॥
अजीर्णे भोजन त्यागी,काले भोक्ता च सात्म्यतः।
अन्योऽन्याप्रतिबन्धेन, त्रिवर्गमपि साधयन्॥ ६ ॥
यथावदतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपत्तिकृत्।
सदानभिनिविष्टश्च, पक्षपाती गुणेषु च ॥७॥
अदेशाकालयोश्चर्या , त्यजन् जानन् बलाबलम् ॥
वृत्तस्थज्ञानवृद्धानां, पूजक पोष्यपोषक ॥ ८ ॥

दीर्घदर्शी विशेषज्ञ, कृतज्ञो लोकवल्लभः।
सलज्जःसदयः सौम्य, परोपकृतिकर्मठः ॥ ६॥
अन्तरङ्गारिषड्वर्ग, परिहारपरायण ।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो, गृहिधर्माय कल्पते ॥ १०॥

अर्थात्—न्यायपूर्वक धन कमाने वाला, सदाचारी पुरुषों की प्रशंसा करने वाला, समान कुल शील वाल तथा अपने से भिन्न गोत्र वालों के साथ विवाह सम्बन्ध रखने वाला, पाप से डरने वाला अपने प्रसिद्ध देशाचार के अनुसार कार्य करने वाला, अच्छे पड़ोसियों के मध्य में न तो ज्यादा प्रकट न ज्यादा गुप्त तथा बहुत से दरवाजा से रहित घरवाला, सज्जनों की संगति करनेवाला माता और पिता की भक्ति करने वाला, उपद्रवयुक्त स्थान को त्यागने वाला निन्दित कार्यों में हाथ नहीं डालने वाला अपनी आय के अनुसार व्यय करने वाला, धन के अनुसार वेश भूषा रखने वाला, बुद्धि के आठ प्रकार के गुणों से युक्त, सदैव धर्मशास्त्रों को सुनने वाला अजीर्ण दशा में भोजन नहीं करने वाला समयानुसार हितकारक पदार्थों का भोगने वाला, परस्पर अविरुद्ध भावसे धर्म,अर्थ और कामकी साधना करनेवाला अपनी सामर्थ्यके अनुसार अतिथि और साधु का सत्कार करने वाला, दीनों पर दया करने वाला हमेशा कदाग्रह का त्यागी, गुणीजनों का पक्षपाती, असमय और कुस्थान के व्यवहार का त्यागी बल और अबल का ज्ञाता, सदाचारी ज्ञान वृद्धों की पूजा करने वाला पोष्यों [माता पिता स्त्री बच्चे आदि] का पोषण करने वाला दूरदर्शी

विशेषज्ञ किये हुए उपकारको मानने वाला लोकप्रिय लज्जालु दयालु सज्जन परोपकार करने में कुशल अन्दर के काम क्रोधादि ६ प्रकार के शत्रुओं का जेता जितेन्द्रिय पुरुष गृहस्थ धर्म का अधिकारी होने के योग्य है।

१ न्याय पूर्वक धन कमाना

जिस धन के उपार्जन करने में स्वामी द्रोह, विश्वासघात, छल, कपट ठगी और चोरी आदि निन्द्य कर्मों का प्रयोग न किया गया हो। जो धन ईश्वर की साक्षी रखकर नेकी के नियमानुसार बिना छल कपट रखकर उपार्जित किया गया हो, वह धन न्यायोपार्जित कहलाता है और इस प्रकार धन कमाने वाला पुरुष न्यायपूर्वक धन कमाने वाला कहलाता है।

न्याय पूर्वक कमाया हुआ धन इस लोक में अपने शरीर द्वारा भोगने में या मित्र और कुटुम्बियों को खिलाकर के निःसन्देह सुख का दाता है। न्याय पूर्वक पैसा कमाने वाला पुरुष इस संसार में सब प्रकार से सुखी रहता है। उसका धन कभी नष्ट नहीं होता वह हमेशा वैभवशाली बना रहता है उसका यश चांद और सफेद चादना की तरह फैलता रहता है उसका घर हमेशा मित्र कलत्र पुत्र पौत्रादि परिवारों से परिपूर्ण रहता है उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार का भय अपना असर नहीं जमा सकता और दिन दूना और रात चौगुना फलता फूलता रहता है। न्याय पूर्वक कमाये हुए धन का व्यय करता हुआ वह इस लोक में सभी लोकों का प्रशंसा पात्र और यश का भागी होता है और सत्पात्र को दान देने से तथा दया पूर्वक दीन दुखिया पर उदारता



खिलाने से वह पर लोक में भी श्रेष्ठ फलों का भोक्ता होता है।

अपने अधिकार में रही हुई वस्तु दूसरे को देना दान कहलाता है अर्थात् उस वस्तु पर से अपना अधिकार हटा दूसरे का अधिकार कर देना दान है। दान के इस भेद हैं।

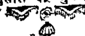
१ अनुकम्पादान—किसी दुःखी दीन अनाथ प्राणी पर अनुकम्पा दया करके जो दान दिया जाता है वह अनुकंपादान है। वाचक, मुख्य, श्री उमास्वाति ने अनुकम्पा दान का लक्षण करते हुए कहा है —

कृपणेऽनाथदरिद्रे व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते।
यद्दीयते कृपार्थात् अनुकम्पातद्भवेद्दानम् ॥

अर्थात्—कृपण दीन-अनाथ-दरिद्र, दुःखी शोकग्रस्त आदि प्राणियों पर अनुकम्पाकर जो दिया जाता है वह अनुकम्पादान है

२ संग्रहदान—संग्रह अर्थात् सहायता प्राप्त करना। आपत्ति आदि आने पर सहायता प्राप्त करने के लिये किसी को कुछ देना संग्रह दान है। यह दान अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये होता है इसलिए मोक्ष का कारण नहीं होता। अभ्युदये व्यसने वा यत् किञ्चिद्दीयते सहायनार्थम्। तत्संग्रहोऽभिमतं मुनिभिर्दानं न मोक्षाय ॥ अर्थात् अभ्युदय में या आपत्ति आने पर दूसरे की सहायता प्राप्त करने के लिये जो दान दिया जाता है। वह संग्रह रूप दान से संग्रह दान है। ऐसा दान मोक्ष का कारण नहीं होता। —

३ भयदान—राजा, मंत्री पुरोहित आदि के भय से
पिशाच आदि के जाने वाला दान भय



राजा रक्षपुरोहित मधुमुखेमायिवलदण्डपाशिपु च।
यद्दीयतेभयार्थंतद्भयदान बुधै र्ज्ञेयम् ॥

अर्थात्—राजा राक्षस या रक्षा करने वाले, पुरोहित, मधुमुख—अर्थात् दुष्ट पुरुष जो मुँह का मीठा और दिल का काला हो, मायावी दण्ड अर्थात् सजा वगैरह देनेवाले राजा पुरुष इत्यादि को भय से बचनेके लिये कुछ देना भय दान है। ४ कारुण्यदान-पुत्र आदि के वियोग के कारण होने वाला शोक कारुण्य कहलाता है। शाकके समय पुत्र आदि के नाम से दान देना कारुण्यदान है है। ५ लज्जादान—लज्जा के वश जो दान दिया जाता है।

अभ्यर्थित परेण तु यद्दानं जन समूहगत.।
परचित्तरक्षणार्थं लज्जायास्तद्भवेद्दानम् ॥

अर्थात्—जनसमूह के अन्दर बैठे हुए किसी व्यक्ति से जब कोई आकर मागने लगता है। उस समय मागने वाले की बात रखने के लिये कुछ देदेने को लज्जा दान कहते हैं। ६ गौरवदान—यश कीर्ति या प्रशसा प्राप्त करने के लिये गर्व पूर्वक दान देना गौरव दान है।

७ अधर्मदान—अधर्म की पुष्टि करने वाला अथवा जो दान अधर्म का कारण है वह अधर्म दान है।

८ धर्मदान—समतृणमणिमुक्तेभ्यो, यद्दान दीयते सुपात्रेभ्य । अक्षयमतुलमनन्त, तद्दान भवति धर्माय ॥

जिनके लिये तृण, मणि और माता एक समान है ऐसे सुपात्रों



को जो दान दिया जाता है वह दान धर्मदान होता है, ऐसा दान कभी व्यर्थ नहीं होता। इसके बराबर कोई दूसरा दान नहीं है यह दान अनन्त सुख का कारण है।

९ करिष्यतिदान—भविष्य में प्रत्युपकार की आशा से जो कुछ दिया जाता है वह करिष्यतिदान कहा जाता है।१० कृतदान—पहले किये हुए उपकार के बदले में जो कुछ दिया जाता है उसे कृतिदान कहते हैं।

शास्त्र न्यायोपार्जित द्रव्य के दोहा अतिक्रम बतलाता है जैसे—

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च; पात्रे च प्रतिपादनम्॥

अर्थात्—नीति पूर्वक प्राप्त हुए धन के दो ही अतिक्रमण जानने चाहिये—१ एक तो कुपात्र का नहीं देना दूसरा सुपात्र का देना क्योंकि इस संसार में न्याय पूर्वक कमाये हुए धन का सुपात्र में दान देने वाला व्यक्ति पूर्व भव में ब्राह्मण के यहां नौकर रहने वाले किया पात्र ब्राह्मणों के भोजन से अवशिष्ट पदार्थों से मास क्षपण के महाव्रती तपस्वी मुनि को पारण कराने वाले सन्दायेण की तरह तथा साधुओं को पूर्व भव में क्षीर आदि का दान देने से सेठ धन्नाजी शालीभद्र और धन्य कुमार की तरह सुख को प्राप्त करता है, देव योनि में जन्म लेता है और अनेक प्रकार के सुखों की भोग भूमि को प्राप्त करता है।

मनुष्य जन्म की प्राप्ति की सफलता की द्योतक कई सिद्धियां को प्राप्त होता है।



न्याय से कमाया हुआ द्रव्य यदि पात्र और कुपात्र का विचार किये बिना ही दान में दे दिया जाता है, तो वह भोग फल का हेतु होने पर भी जैसी तैसी योनि के प्राप्त होने के कारण अन्त में एकलाख ब्राह्मण का भोजन कराने वाले अन्य भव में सेचनक हाथी की योनि को प्राप्त होने वाले ब्राह्मण की तरह मृत्यु के पश्चात् दुर्गति का कारण होता है क्योंकि प्राणी जो कहीं भी उत्पन्न होता है अपने किये दानानुसार भले बुरे भोग को प्राप्त करता है।

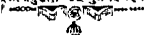
अन्याय से कमाये हुए धन को सुपात्र में दान देने से प्राप्त ऊसर क्षेत्र में बोये हुए सामान्य बीज के फल की प्राप्ति की तरह साधारण सुख का भोक्ता बनता है कभी ...

गवेऽपि गावि दुग्धं स्यात् दुग्धमप्युरगे विषम्

पात्रापात्र विशेषेण तत्पात्रे दानमुत्तमम् ॥

अर्थात्—गाय को पिलाने से घास भी दूध के रूप में परिवर्तित होजाताहै और दूध जैसा अमृत के समान स्वादिष्ट पदार्थ सांप को पिलाने से जहर होजाता है।

वाचकाचार्य—उमास्वाति ने दान और दान के योग्य पात्रादि स्वरूप इस तरह बतलाया है अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गोदानम् ।३३। विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ।३४। अनुग्रह के लिये अपनी वस्तु का त्याग करना—दान है विधि, देयवस्तु, दाता और ग्राहक की विशेषता से उसका विशेषता है। दान धर्म जीवन के समग्र सद्गुणों का मूल है अतः उसका विकास पार



माथिक दृष्टि से अन्य सद्गुणो के उत्कर्ष का आधार है, और व्यवहार दृष्टि से मानवी व्यवस्था के सामंजस्य का भी आधार है। दान का मतलब है न्याय पूर्वक अपने को प्राप्त हुई वस्तु का दूसरे के लिये अर्पण करना यह अर्पण उसके कर्ता और स्वीकार करनेवाले दोनों का उपकारक होना चाहिये। अर्पण करने वालेका मुख्य उपकार तो यह है कि उस वस्तु पर से उसकी ममता हट जाय, और इस तरह से उसे संतोष और समताभाव का प्राप्ति हो। स्वीकार करनेवाले का उपकार यह है कि उस वस्तुसे उसकी जीवन यात्रा में मदद मिले, और परिणाम स्वरूप सद्गुणों का विकास हो।

सभी दान, धानरूप से एक जैसे होने पर भी उनके फल में तरतम भाव रहता है। यह तरतम भाव दान धर्म की विशेषता के कारण होती है। और यह विशेषता मुख्यतया दान धर्म के चार अंगों की विशेषता के अनुसार होता है इन चार अगों की विशेषता निम्न अनुसार वर्णन की गई है।

१ विधि की विशेषता में देश काल का औचित्य और लेने वाले के सिद्धान्त को बाधा न पहुँचे ऐसी कल्पनीय वस्तु का अर्पण इत्यादि बातों का समावेश होता है।

२ द्रव्य की विशेषता में दी जाने वाली वस्तु के गुणों का समावेश होता है। जिस वस्तु का दान किया जावे, यह वस्तु लेने वाले पात्र की जीवनयात्रा में पोषक होकर परिणामत उसके निजी गुण [illegible] निमित्त बने ऐसी होनी चाहिय।

३ दाता की विशेषता-से लेने वाले पात्र के प्रतिपक्षा को उसकी तरफ तिरस्कार या असूया का न होना तथा देते समय या बाद में विषाद न करना।

४ पात्र की विशेषता—दान लेनेवाले का सत्पुरुषार्थ के लिए ही जागरूक रहना। तत्वार्थ सूत्र अ' ७।३३।२ '

इसलिये पात्र और अपात्र की विशेषता का सम्यक्तया विवेचन करके ही जो दान दिया जाता है वही सात्विक और उत्तम कहलाता है।

यदि कोई व्यक्ति सुपात्र और कुपात्र की परीक्षा किये बिना ही अन्याय से कमाये हुए धन का कुपात्र को दान देता है तो उसे मम्मणश्री तरह परलोक में निश्चय रूप से नरकका दुःख भोगना पडता है, उसका किसी तरह छुटकारा नहीं होसकता। ऐसे दानी व्यक्ति की सभ्य समाज में निन्दा और हंसी होती है तथा परलोक में कुगति होती है। अतः ज्ञानी जनों को चाहिये कि वे अपने को उभय लोक में अनिष्ट पहुँचाने वाला ऐसा दान न करे जिससे कि उन्हें भविष्य में कष्ट उठाना पड़े। शास्त्रों में भी ऐसे दान की निन्दा की गई है। यथा—

अन्यायोपात्तवित्तस्य, दानमत्यन्तदोषकृत्।
धेनुं निहत्य तन्मांसैः, ध्वांक्षाणामिव तर्पणम्॥

जिस प्रकार गाय को मार कर उसके मांस से कौओं को बली देकर तृप्त करना महान् अपराध है उसी प्रकार अन्याय से कमाये हुए धन का कुपात्र में दान देना भी बड़ा भारी अपराध




है। इस तरह अर्जन किया हुआ धन इहलोक में फांसी और कारागार आदि से तथा परलोक में नरकादि में गिरानेवाला होने से अमंगल–दुःख के लिये ही है।

अन्याय से कमाये हुए धन द्वारा जो व्यक्ति अपना भला चाहता है उसका सुखस्वप्न हलाहल जहर का भक्षण करने वाले प्राणी के जीवन की तरह क्षण स्थायी है। अन्याय द्वारा इकट्ठा किया हुआ धन, थोड़े ही वर्षों के बाद, या तो चोरों से चुरा लिया जाता है अथवा राजा आदि के क्रोध होने पर बलात् अपहरण कर लिया जाता है। पानी के प्रबल प्रवाहों से बहाकर, अग्नि की उग्र लपटें से जलाकर, भूकम्प आदि भयकर, उपसर्गो से अस्त व्यस्त किया हुआ विनाश को प्राप्त होजाता है। अतः न तो वह उस अन्यायी से आनन्द पूर्वक भोगा ही जा सकता है और न दान पुण्यादि सत्कार्यो में उससे व्ययही किया जासकता है

कहा भी है–अन्यायोपार्जित वित्त,दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे, समूल च विनश्यति ॥

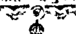
अर्थात्–अन्याय से कमाया हुआ धन दश वर्ष पर्यन्त ठहरता है और ग्यारहवां वर्ष लगते ही समूल नष्ट होजाता है। इस विषय की पुष्टि में वंचक सेठ का कथानक लिखा जाता है।

किसी गावमें धन नामक सेठ रहता था वह बचपन से ही बड़ा धूर्त और निरा ठग था। जितनी भी बातें एक सच्चे धूर्त और ठग में होना चाहिये वे सब उसमें वास्तविक रूप से विद्यमान थी। उसकी स्त्री का नाम धना था वह धूर्तता और चाला

की में अपने पति से अधिक नहीं तो कम भी न थी दोनों में परस्पर प्रेम की गंगा बहती थी। इनके धनसार नाम का इक लौता पुत्र था जो माता पिता का बड़ा भक्त था।

धन सेठ मीठी मीठी और चिकनी चुपड़ी बातों से, कम तोलने से नयी पुरानी वस्तुओं के संमिश्रण से विचारे भोले ग्रामीण जनों को ठग कर अन्याय द्वारा अपना उल्लू सीधा करके सदैव धन कमाता था। उसे इस ईश्वरीय नियमका किंचित् मात्र भी ख्याल न था कि जो प्राणी दूसरों को ठगता है। उनके साथ धूर्तता का व्यवहार करता है और किसीसे कपट रखता है वह स्वयं ही इन पापकर्मों द्वारा अपने हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारता है और उभय लोक में अत्यन्त दुःख का भागी होता है। वह तो रात दिन धन कमाने की ही धुन में सलग्न रहता था किन्तु उसका अन्याय द्वारा कमाया हुआ वह धन आये वर्ष किसी भी उपसर्ग द्वारा नष्ट हो जाता था।

इधर धनसार को भी युवा अवस्था ने आ घेरा। धन सेठ ने उसे विवाह के योग्य समझ पास ही के किसी अन्य गांव के निवासी सुश्रावक सेठ की सुपुत्री के साथ उसका विवाह कर दिया। कुछ महीनों के बाद द्विरागमन (मुकलावा) के दिन नव-परिणीता वधू ने अपने आगमन से अपनी ससुराल को अलंकृत किया। सेठ की पुत्रवधू धर्म का जानने वाली और सुश्राविका थी दोनों समय प्रतिक्रमण करने का उसका नि[illegible] किसी के अन्याय पूर्वक किये गये पाप कर्म को [illegible] देखना नहीं चाहती थी



इधर सेठ का दूकान घर के पास ही में थी। सेठ लेनदेन के समय अपने पूर्व निश्चित सफल के अनुसार पंचपोकर त्रिपोकर के माप के सम्बन्ध से अपने पुत्र को भी पंचपोकर और त्रिपोकर के नाम से ही पुकारता था। थोड़े ही वर्षों के बाद जब उसके कपट व्यवहार का पता लोगों को चल गया तब लोग उसे ठगक सैठ के नामसे पुकारने लगे।

एक दिन समय पाकर बहू ने अपने पति धनसार से पूछा कि नाथ! आपको आपके पिता इन नामों से क्यों पुकारते हैं? इस प्रकार पत्नी से पूछे हुए धनसार ने शान्तिपूर्वक सारा हाल कह सुनाया। इस सब वृतान्त को सुनकर धनसार की स्त्री ने अपने ससुर से प्रार्थना की कि आप इस प्रकार अन्याय द्वारा धन न कमावें तो अच्छा है। क्योंकि अन्यायपूर्वक कमाया हुआ धन आपके घरमें किसी प्रकार न ठहरेगा। इसे आप निश्चित समझें।

पुत्रवधू के मुख से निकले हुए ऐसे वचन सुनकर सेठने गिड़गिड़ाती हुई आवाज से कहा,—"तब फिर निवाह कैसे होगा?" अपने श्वसुर के प्रश्न का कोमल और गम्भीर स्वर से उत्तर देती हुई पुत्रवधू ने कहा, "न्यायपूर्वक कमाया हुआ धन चिरकाल तक स्थिर रहता है तथा सत्पात्र और सत्क्षेत्र में दान देने से उत्तरोत्तर बढ़ता है। यदि आपको विश्वास न हो तो आप छ महीने पर्यन्त कपटपूर्ण व्यवहार को छोड़ कर न्यायपूर्वक व्यवहार करें।"

अपनी पुत्रवधू के मुख से निकले हुए अनुकरणीय वचनों का आदर करते हुए सेठ ने वैसा ही करना आरम्भ कर दिया। छ

महीने के अन्दर ही उसने पाँच सेर सोना क्रमा कर एकत्रित कर लिया। सत्यवादी होने से और सत्यतापूर्वक व्यवहार करने से सभी ग्राहक उसी से लेन देन का व्यवहार करने लगे। संसार में उस की धवल कीर्ति शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की चाँदनी की तरह प्रतिदिन चमकने लगी।

इधर सेठ ने सोना लाकर अपनी पुत्रवधू को दिया। पुत्रवधू ने कहा कि दूसरी परीक्षा करो। सेठ ने अपने पुत्र के हाथों उन पाँच सेर सोने को चमड़े की थैली में बाँधकर और उस पर अपनी मुहर लगा कर उसे तीन दिन पर्यन्त राजमार्ग में डाल दिया। परन्तु वहाँ पर वह थैली किसी की दृष्टि में नहीं आई तदनन्तर वह थैली वहाँ से हटा कर किसी वन के तालाब में डाल दी गई। वहाँ पर उसे कोई मत्स्य निगल गया। दैवयोग से वही मत्स्य किसी धीवर के जाल में फँसगया। मछुए ने उस को लाकर चीरा। चीरने पर उसमें से वह थैली निकली। नाम द्वारा पहिचान कर वह मछुआ उस थैली का धन सेठ की दुकान पर लेगया। सेठ ने उसे सन्तुष्ट करके वह थैली लेली। इस अनुपम चमत्कार को देखकर सेठ का अपनी पुत्रवधू के वचनों में पूर्ण विश्वास होगया। बाद में न्याय पूर्वक व्यापार करने से तथा सत्क्षेत्र में धन खर्च करने से वह धन सेठ बड़ा भारी वैभवशाली सेठ होगया और सुख-पूर्वक अपना जीवन बिताने लगा। इस से यह सिद्ध होता है कि न्याय ही वास्तव में धन कमाने का मुख्य उपाय है।

अन्याय से एकत्रित द्रव्य देवद्रव्य एवं पापियों के धन

व्यवसाय आदि करना भी बड़ा भारी अपराध है। कहा भी है—

अन्यायदेवपाखण्डितद्रनाना धनेन यः।
वृद्धि मिच्छति मुग्धोऽसौ विषमत्ति जिजीविषुः॥१॥

अर्थात् जो प्राणी अन्याय से कमाये हुए धन से, देवद्रव्य से तथा पाखण्डी के धन से अपने ऐश्वर्य की वृद्धि चाहता है वह मूर्ख जीने की इच्छा रखता हुआ भी हलाहल जहर खाता है। और भी—

भक्खेई जो उवक्खेई, जिणदव्व तु सावओ।
पन्ना हीणो भवे जोउ लिप्पई पावकम्मुणा॥१॥

जो श्रावक देवद्रव्य को खाता है, उसकी उपेक्षा करता है वह पुण्यहीन होकर पाप कर्म से लिप्त होजाता है।

जो पुरुष कार्यसिद्धि का ज्ञाता न होते हुए भी अपनी मूर्खता से कम या अधिक रूप से देवद्रव्य का जहाँ तहाँ खर्च करता है, उसके हिसाब किताब का झूठा तथा बनावटी लेखा करता है वह यत् और तत् शब्द के नित्य सम्बन्ध की तरह सदैव पाप कर्मों से लिप्त रहता है। जो मनुष्य देवद्रव्य का भक्षण करता है, पराई स्त्री के साथ समागम करता है वह इहलोक तथा परलोक में तरह तरह के दुःखों को भोगता है और सातवीं नरक में जाता है। देवद्रव्य से जिस ऐश्वर्य की वृद्धि होती है गुरु के धनसे जो धन होता है वह धन और वह ऐश्वर्य इस लोक में कुलनाश का हेतु तथा मृत्यु के पश्चात् नारकीय यातनाओं का प्रदाता होता है। परधन

को इच्छा, ब्रह्म हत्या, दरिद्र का धन तथा गुरुपत्नीगमन एवं देव द्रव्य आदि स्वर्गस्थ पुरुषको भी पतित करदते हैं। इसलिए कण्ठ में प्राण रहते कभी भी परधन की इच्छा मत करो। क्योंकि अग्नि द्वारा जलाये हुए फिर हरे भरे हो सकते हैं परधन रूपी अग्नि से दग्ध पुन हरे भरे नहीं हासकते।

इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली सकाश नामक श्रावक की कथा दृष्टान्त रूप से लिखते हैं।

प्राचीनकाल में गन्धिलावती नगरी म शुद्धात्मा, सम्यग् दर्शनोपासक, श्रावक के बारहव्रतों को पालन करनेवाला, सर्वज्ञ भगवान् के मुखारविंद से निकले हुए वचनानुसार कर्म करनेवाला सकाश नाम का श्रावक रहता था। वह दोना समय प्रतिक्रमण करने मे प्रभु त्रिकालपूजा करने से तथा पर्वतिथियों में शक्त्यनुसार तपस्या करने से भी कभी नहीं चूकता था। उसके न तो कोई शत्रु था और न कोई मित्र। सभी पर उसकी समान दृष्टि रहती थी। लोग उसे विश्वास और सतोष की तो प्रतिमूर्ति ही समझा करतेथे।

उस नगरी मे अत्यन्त सुहावना एक शक्रावतार नामका चैत्य था जिसपर सकाश का ही दखरेख थी और उस चैत्य के आय व्यय का लेखा भी वह स्वय ही किया करता था। अनेकों उपायों द्वारा वह अहर्निश देवद्रव्य की वृद्धि म ही सलग्न रहता था। लोगो का भी उसपर इतना अटल विश्वास था कि कोई कभी भी उसे देवद्रव्य की आय व्यय का हिसाब तक नहीं पूछता था।

थोड़े ही दिनो के बाद, समय के फेर स कहिये या कुकर्मों के उदय से एकदम उसकी नियत का पासा पलट गया। वह देव



द्रव्य में से अपने निजी कामों में भी धन व्यय करने लगा और शनै शनै उस धन का उपभोग करते हुए उसने सारा का सारा स्वद्रव्य हड़प करडाला। देवद्रव्य को हड़प करने पर भी न तो उसके दिल में पश्चाताप ही हुआ और न कोई उसे हार्दिक वेदना ही हुई। इस कुकर्म के कारण चारों और से उस पर व्यङ्गवचनों की बौछारें होनी शुरु हुई। उसकी निन्दा की गई और उसे दोषी ठहराया गया। लेकिन उसने इनबातों की तनिक भी परवाह न की और न उस देवद्रव्य को पुन लौटादेने की उसके पाषाण हृदय में इच्छा लता ही प्रस्फुटित हुई।

अन्त में वह दिन आ पहुँचा जिस दिन उसे अपनी सारी लीलाओं का सवरण करके इस असार ससार से कूच करना पड़ा। बाद में चार गति वाले ससार में असंख्य योनियों में जन्म ग्रहण करके वह अनेक प्रकार के दु खों की भोग भूमि बना। तदुपरान्त नरक गति में भी उसने इस प्रकार बहुतसे दु ख सहे-

कहीं चर्बी कहीं मास से परिपूर्ण तालावों में गोते खाते हुए तथा करुण क्रन्दन करते हुए दीन नारकीय प्राणियों के साथ उस को भी निवास करना पडा। कहीं अगारों से भरे हुए वज्रकुडों में उसे फेंका गया, कहीं वह स्वय अग्नि की दाह पीड़ा से घबरा कर, वैतरणी नदी को शीतल जल वाली समझ उसमें कूद पडा किन्तु उसके क्षार जल से व्यथित होकर पुन मृग की तरह उछल कर बाहिर आया। बाद में छाया की इच्छा से तलवारों के समान तीक्ष्ण पत्ता वाले वृक्ष समूहा से वेष्टित असिपत्र नामक वन म गया। वहा पर भी हवा के प्रबल झोकों से गिरते हुए



भाले, तलवार, तीर, तोमर और शक्ति आदि आदि शस्त्रों से उस का शरार छेदा गया। असह्य दु खों के कारण बारम्बार पृथ्वी पर गिरते हुए और उछलते हुए उस असहाय प्राणी के कातर दृष्टि से चारो ओर देखने पर भी वहा उसका कोई रक्षक दिखाई न पडा।

कहीं उसके कान काटे गए कहीं उसकी आखे निकाली गई, कहीं उसके हाथ पैर कलम किये गये, कहीं उसका नाक काटा गई, कहीं उसका हृदय जलाया गया, कहीं उसको शिकारी कुत्तों द्वारा नुचवाया गया तो कहीं उसे डरावनी सूरत वाले कंकालों स भक्षण करवाया गया।

कहीं उसको खौलते हुए तेल में डाला गया तो कहीं धाँय धाँय करके आकाश की ओर लपकती हुई आग की भीषण लपटा में फेंका गया। कहीं लोहे को तीक्ष्ण कीलों पर उसे नंगे पैर चलाया गया और कहीं उस उल्टे शिर जलरहित कुए म लटकाया गया।

इस प्रकार नरक गति के भय उत्पन्न करने वाले रोमांचकारी दृश्यों को देखकर, असह्य यातनाओं को भोगकर अन्त म वह तिर्यंच योनि म उत्पन्न हुआ। इस योनि म भी कहीं नाक छिदवा कर, कहा बोझा उठाकर, कहीं रस्सी से घसीटकर, कहीं अंकुश से व्यथित होकर उसने अनेकों कष्ट सहे परन्तु इतने पर भी उसका छुटकारा न हुआ। उसे भूख प्यास और सरदी गरमी के साथ साथ नाक में नकेल डलवाना पडी। अन्त में वह किसी प्रकार मनुष्य योनि का अधिकारी हुआ।

वहाँ पर भी उसे लूले, लंगड़े, अंधे, बहिरे, गूंगे और कोढ़ी तथा गंजे होने के कष्ट भोगने पड़े। कभी उसे परदेश जाना पड़ा तो कभी अपराधी होने के कारण कैदखाने की हवा खानी पड़ी। कभी पापी पेट के कारण उसे दासत्व स्वीकारना पड़ा तो कभी हत्यारा बनकर फांसी के तख्ते पर भी उसे शोक भय त्रास दरिद्रता और निन्दा आदि बहुत से अपमानों का कटु अनुभव करना पड़ा।

इस तरह असंख्य योनियों में भटकने के पश्चात उसने नगरी नगरी में किसी अतुल सम्पत्ति वाले सेठ के घर पुत्र रूप में जन्म लिया। उसके जन्मते ही सेठ के घर का सारा वैभव एकदम नष्ट भ्रष्ट होगया। उसका बड़ा भारी कुटुम्ब तीन तेरह होगया। उसकी सारी जाहोजलाली खाक में मिल गई। चिंघाड़ते हुए हाथियों और हिनहिनाते हुए घोड़ों से परिपूर्ण पाल्साल और तबेल (अस्तबल) खाली होगये। सारा गोकुल का गोकुल एकदम उजड़ गया उस सेठ को इस पापी के जन्म से इस जोर का धक्का लगा कि उसका सारा दिवाला निकल गया और उसकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया। केवल इतना ही नहीं उस और उसकी पतिव्रता स्त्री को अपने अमूल्य जीवन से भी हाथ धोना पड़ा।

पिता की मृत्यु के उपरांत उसे बड़े बड़े असाधारण दुःख भोगने पड़े। कभी उसे लोकनिन्दा का डर था तो कभी राज शासन का। कभी कभी तो उसे कई दिनों तक अन्नदेव के दर्शन तक नहीं होते थे।



एक समय उस नगरी में केवली का आगमन हुआ। सका का जीव भी केवली के दर्शन एव वंदन के हेतु उनकी पवित्र सभ में उपस्थित हुआ। दर्शन और वन्दन के पश्चात् उसने केवली से अपने पूर्व भव का वृत्तान्त पूछा। केवली ने अपन ज्ञान बल से, देवद्रव्य के भक्षण करने का और पूर्वभव में उससे मुक्त सभी दुःखों का हाल कह सुनाया। केवली के द्वारा अपन पूर्वभव के वृत्तान्त को सुनते ही उसका कलेजा काप उठा और वह मन ही मन अपने किये पर पछताने लगा।

'अरे मैं दुर्बुद्धि हूँ, पापी हूँ, हत्यारा और निर्लज्ज हूँ। मर्यादा हीन, नपुसक तथा कुल कलकी हूँ। दुर्लभ मनुष्य जन्म को पा कर भी, जैन धर्म के तत्व को जानते हुए भी सर्वज्ञ भगवान के मुखारविंद से निकले हुए शास्त्रों के सार को श्रवण करके भी, श्रेष्ठ तपस्वी पञ्चमहाव्रतधारी साधुओं की सेवा में रह कर भी लोभी मूर्ख और नीच मैंने ऐसे भयकर दुःखों के परिणाम वाले देवद्रव्य का भक्षण किया। हा ! इस संसार में मेरे समान कौन पापी, दुराचारी और अन्यायी होगा जिसे ऐसा निकृष्ट कार्य करते तनिक भी लज्जा न आई।'

इस प्रकार अपने मन में पश्चाताप करके उसन केवली क उपदेश से केवली के सन्मुख ही अभिग्रह ग्रहण किया कि हे प्रभो खाने पाने और पहिनने ओढ़ने में व्यय होने के उपरान्त जो पैसा बचेगा वह सब का सब पैसा मैं देवद्रव्य में दूँगा। जिस प्रकार शुद्ध चित्त से उसने अभिग्रह लिया उसी प्रकार उसके पास न भी आनाप शनाप आने लगा। उस धन से उसने मदिरो का



जीर्णोद्धार कराया, कलश चढ़ाये नवीन मंदिर बनवाये, जगह २ नूतन प्रतिमाएँ स्थापित की। कई अष्टाह्निक महोत्सव किये, कई स्नात्रादि पूजाएँ पढाई। इस प्रकार अनेक पुण्य कार्य करके देव-द्रव्य के भक्षण करने से उत्पन्न हुए पापों को क्षय कर के, जीवन पर्यन्त भली प्रकार अभिग्रह पालन करके उस नगरी के सभी जिन चैत्यों के द्रव्य की वृद्धि करके अन्त में मर कर देवयोनि में उत्पन्न हुआ। शास्त्रों में भी कहा है कि--

एव जे जिण दव्व वुड्ढि निंति सुसावगा।
ताण रिद्धी पवड्ढेई कित्ती सुक्ख बल तहा॥ ॥

अर्थात् इस प्रकार जो श्रावक देवद्रव्य की दिनोंदिन बढ़ाते हैं उनके ऋद्धि,सिद्धि कीर्ति और सुख तथा बलकी वृद्धि होती है। ससार में उनका मान होता है और वे अमूल्य गौरव के भागी होते हैं यद्यपि पाप कर्मको रोकने वाले किसी प्रबल पुण्य के प्रताप से इस लोक में होने वाली विपत्ति दिखाई नहीं देती तो भी भविष्य (परलोक) में अवश्य होती है।

अगर कोई मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर अयोग्य व्यवसायों से तथा धार्मिक एवं गृहस्थ सम्बधी कार्यों में अत्यल्प व्यय करके यदि लक्ष्मी की वृद्धि करना चाहे तब भी वह लक्ष्मी के पुण्यानु-सारिणी होने के कारण उसकी वृद्धि करने में समर्थ नहीं हो सकता। शास्त्र भी इसी बात का विवेचन करता हुआ लिखता है कि-

यत्नानुसारिणो विद्या, लक्ष्मी पुण्यानुसारिणी।
दानानुसारिणी कीर्ति बुद्धि:कर्मानुसारिणी॥१॥

यत्न के अनुसार विद्या प्राप्त होती है, पुण्य के अनुसार लक्ष्मी प्राप्त होती है और दान के अनुसार कीर्ति तथा कर्म के अनुसार बुद्धि प्राप्त होती है। और भी—

निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः ।
शुभकर्माणमायान्ति विवशाः सर्वसम्पदः ॥ २ ॥

जिस प्रकार मेंढक जलाशय को, पक्षी जल से परिपूर्ण सरोवर को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार विवश हुई सम्पत्ति अपने आप शुभ कर्मा पुरुष को प्राप्त हो ही जाती है।

इस विषय की पुष्टि में धन सेठ की कथा का उदाहरण दिया जाता है।—

—धनसेठ की कथा—

कांचनपुर नगर में सुंदर सेठ के एक धन सेठ नाम का पुत्र था जो कि ९९ लाख धन का स्वामी था। उसके पिता ने ४४ लाख का धन तो अपनी हिम्मत से कमाया और ५५ लाख का धन पहले का था। पिता की मृत्यु के उपरान्त उस धन सेठ ने एक करोड़ धन एकत्रित करने के लिये घर खर्च का नियत रकम में से एक लाख रुपया कम कर दिया सो भी कुछ समय के बाद हिसाब किताब के देखने पर अन्य वस्तुओं के टूटने फूटने से उतना ही द्रव्य रहा, उसमें जरा भी वृद्धि न हुई।

यह देख कर वह धन कमाने के लिये प्रदेश गया। एक करोड़ रुपये से भी अधिक कमाकर वहाँ से अपने देश को लौटा किन्तु भाग्य के फेर से वह मार्ग में ही चोरों द्वारा लूट लिया



गया। थोड़े बहुत शुभ रखे हुए आभूषणों को लेकर वह घर पहुँचा तदनन्तर उसने फिर अपने धन का हिसाब लगाया परन्तु धन तो उतना का उतना ही रहा। इस प्रकार करते करते उसे कई दिन बीत गये। एक दिन अवसर पाकर उसने अपने मित्र जिनदत्त से धन न बढ़ने का कारण पूछा। उसने कहा कि घर का खर्च पूर्ववत् ही रहने दो। मित्र के वचनानुसार उसने वैसा ही किया और फिर धनोपार्जन के लिये परदेश चला गया। वहाँ पर उसने लगभग सवा करोड़ रुपया कमाया। बाद में जब वह धन कमा कर वापस घर लौटने लगा तो मार्ग में सारा का सारा धन माल जल कर राख होगया। घर पर आकर उसने फिर हिसाब किया तब भी उसे उतना ही धन मिला। तब मित्र ने कहा, "तुम्हारे भाग्य में इतना धन सदा है तब क्या इतना कष्ट उठाते हो?" मित्र के ऐसा कहने पर वह मन ही मन पछताने लगा और फिर कभी उसने परदेश की ओर झाँका तक नहीं।

एक समय शहर के लक्षाधिपतियों ने मिलकर करोड़पति पुरुषों का आदर किया। यह देख उसके भी मन में फिर से करोड़पति बनने की प्रबल इच्छा जागृत हुई। माहण, वाहण और पाहण इन्हीं तीन उपायों को द्रव्य कमाने का मुख्य साधन समझ कर वह विदेश यात्रा के हेतु जहाज पर सवार होगया। मित्र के रोकने पर भी न रुका और न समझाने पर ही समझा।

कुछ ही दिनों के बाद वह अपने अथक परिश्रम और भगीरथ प्रयत्नों द्वारा एक करोड़ की कीमत के कमाये हुए रत्नों को, लुट जाने के भय से, अपनी जांघ में छिपाकर,

घर की ओर लौटा। मार्ग में दैवयोग से जहाज किसी चट्टान द्वारा टकरा कर टूट गया और वह आयु के शेष होने से किसी लट्टे के सहारे किनारे पर पहुँचा। वहाँ से वह किसी प्रकार घर आया और बाद में लेखा करने पर उसे यही हिसाब मिला। एक करोड़ की कीमत के रत्नों का मूल्य जाघ में दबे रहने के कारण शरीर की गर्मी आदि से बहुत कम होगया।

अन्त में वह धनोपार्जन के तरह तरह के उपाय करके थक गया और धर्मपुण्य तथा गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों में खूब धन व्यय करने लगा। इस प्रकार करते करते उसकी गृह वस्तुओं के महगी होने के कारण कुछ दिनों में ही वह करोड़पति बन गया। जब उसके पास बहुतसा धन होगया तब उसने फिर बहुतसे जिन चैत्यों के निर्माण में प्रतिमा स्थापन आदि महोत्सवों में तथा अन्य सप्त क्षेत्रों में, अपने गाढे पसीने की कमाइ को व्यय करना प्रारम्भ किया। तदनन्तर वह दीक्षित होकर जोरों की तपस्या करने लगा और अन्त में तप के प्रभाव से केवली होकर मोक्ष को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार अन्याय और अनर्थ का परित्याग करके, धर्म पुण्य और गृहस्थ सम्बन्धी कामों म धन व्यय करने से ही धन की वृद्धि होती है। धन ही गार्हस्थ्य जीवन के सुख का मुख्य कारण है। इसलिये सर्व प्रथम 'न्याय सम्पन्न विभव का विवेचन किया गया है ॥१॥

॥ इति प्रथमो गुण समाप्त ॥

॥ अथ द्वितीयो गुणः प्रारभ्यते ॥

अब हम दूसरे गुण'शिष्टाचार प्रशंसा' का वर्णन करते हैं। शिष्ट शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ शिष्यन्ते स्म शिष्टा अर्थात् जिन वृद्धोपसेवी गुणानुरागी सज्जनों के अनुकरणीय एवं आदरणीय चरित्रों से संसार में लोग शिक्षा ग्रहण कर सकें उन्हें शिष्ट कहते हैं। उनको श्रेष्ठ आचरणों की प्रशंसा शिष्टाचार प्रशंसा' कहलाता है। अनेकों उपायों द्वारा उनकी प्रशंसा की वृद्धि करनेवाला,जनता के समक्ष उनका गुणानुवाद करने वाला, शिष्ट पुरुषों के उत्साह को दूना करने वाला पुरुष शिष्टाचार प्रशंसक कहलाता है।

शिष्ट जनों के सदाचरणों की प्रशंसा करने से पुण्य फल की प्राप्ति होती है, आचरण और बुद्धि शुद्ध होती है तथा गुणवानों का आदर होता है। प्रशंसक की उत्तम गुणों में प्रवृत्ति होती है। उसकी आत्मा में उत्साह की वृद्धि होती है और इस लोक में वह सुखी होता है तथा अन्त में उसे सद्गति मिलती है।

अब यह प्रश्न उठता है कि सदाचार किसे कहते हैं? शास्त्रों ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यह लिखा है कि—

लोकापवाद भीरुत्व, दीनाभ्युद्धरणादरः।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्य, सदाचारःप्रकीर्तित.॥१॥
सर्वत्र निन्दासंत्यागो, वर्णवादः सुसाधुषु।
आपद्यदैन्यमत्यन्त, तद्वद् सम्पदिनम्रता ॥२॥
प्रस्तावे मितभाषित्व,-मविसंवादनं तथा।

प्रतिपन्न क्रियाचेति, कुलधर्मानुपालनम् ॥३॥
असद्व्ययपरित्यागः, स्थाने चैवक्रिया सदा।
प्रधानकार्ये निर्बन्धः, प्रमादस्य विसर्जनम् ॥४॥
लोकाचारानुवृत्तिश्च, सर्वत्रोचित्यपालनम्।
प्रवृत्तिर्गर्हितेनैव प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥५॥

लोकनिन्दा का डर, दीनों की रक्षा करने की लगन अपने साथ किये गये उपकारों का स्मरण और प्रत्येक कार्य में निपुणता रखना सदाचार कहलाता है। कहीं पर किसी की निंदा न करना, सज्जनों की प्रशंसा करना, दुःख में घबरा कर कायर न होना, अपने अभ्युदय के समय में नम्रता रखना, बात चलने पर कम बोलना किसी को धोखा न देना, स्वीकार किये हुए कार्य (प्रण) को पूरा करना, अपने कुल धर्म का पालन करना, फिजूल खर्च का त्याग, योग्य जगह और अवसर पर सदैव धन का व्यय, मुख्य और योग्य कार्य का बेरोक टोक करना, सदैव सावधान रहना, लोकाचार का पालन करना और मरते दम तक निन्द्य कार्यों में प्रवृत्त न होना यही सदाचार का लक्षण है। शिष्टाचार की प्रशंसा करते हुए श्री भर्तृहरि लिखते हैं कि—

विपद्युच्चैस्थेयं पदमनुविधेयञ्च महताम्।
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्॥
असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधन।
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥४॥



अपने दुःख के समय में भी उन्नत रहना अर्थात् अपनी विपत्ति किसी के पास प्रकट न करना। प्रकट करने से होता भी क्या है? न तो कोई उसे बाँट ही सकता है और न कोई उसे दूर ही कर सकता है। कहने से उल्टी संसार में हँसी होती है। रहीम ने इस विषय पर क्या ही अच्छा कहा है—

रहिमन निज मनकी व्यथा, मन ही राखो गोय।
सुनि अठीले हैं लोग सब बाँटि न सकि है कोय॥१॥

कहने का तात्पर्य यह है कि अपने दुःख को अपने मन में ही छिपा कर रखना चाहिए किसी अन्य के पास प्रकट करना अच्छा नहीं। और दूसरी बात यह है कि महापुरुषों के चरण चिन्हों का अनुसरण करना अर्थात् जिन योग्य स्थानों पर महापुरुषों ने अपने जिन अनुकरणीय आचरणों से स्थिति की है उसी तरह उनका अनुसरण करके उनसे पवित्र किये हुए मार्ग द्वारा उन्हीं स्थानों को प्राप्त करना, न्याय पूर्वक अपना पेट पालने में ही अपना हित समझना मृत्यु के समय भी निन्द्य कर्मों का आचरण नहीं करना अर्थात् कहीं पर निंदनीय कर्मों के आचरण करने से यदि प्राण बचते हो तो भी प्राण की परवाह न कर उसमें प्रवृत्ति न करना, दुर्जनों की प्रार्थना को अयोग्य समझना अर्थात् दुष्ट मनुष्यों से यदि कुछ मिलने की आशा भी हो तो भी उनसे कुछ न मांगना क्योंकि "याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा", अर्थात् सज्जन मनुष्य के पास यदि अपनी याचना अ-सफल होजाय तब भी अच्छा है किन्तु नीच पुरुष के पास सफल हो जाय तब भी अच्छा नहीं निर्धन मित्र के पास भी किसी

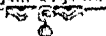
इस प्रकार क्रमशः धर्मद्रोह का कारण होने से मृत्यु के अनन्त भव का कारण होती है। इस बात को चोर का उदाहरण स्पष्ट समझाता है।

कौशाम्बी नगर में सद्गुणों की खान जैन धर्म का प्रेमी सिंहरथ नामक राजा राज्य करता था। उसके शासन काल में धर्म की भारी प्रभा थी, सारी प्रजा सुखी थी, सर्वत्र चैन की बंसी बज रही थी। अपने २ धर्म मार्ग पर चलते हुए लोग फूले न समाते थे। किसी को किसी प्रकार का दुःख न था। उसी नगर में धन और पद्म नाम के दो सेठ रहते थे। धन के तो कुल को प्रसन्न करने वाला धर्मपाल नामक पुत्र हुआ और पद्म के घर के वृद्धि करने वाला वसुपाल नामक पुत्र हुआ। क्रमानुसार अत्यन्त सुन्दर वे दोनों स्वभाव सुलभ चपलता से परिपूर्ण शैशवावस्था के सुखों का अनुभव करते हुए युवावस्था को प्राप्त हुए।

पूर्वजन्म के संस्कारों की प्रबलता से बचपन से ही उनके क्षीर नीर की तरह परस्पर गाढ़ी मित्रता था। जो वस्तु एक को सुन्दर और सुहावनी लगती थी वही वस्तु दूसरे को भी वैसी ही सुन्दर व सुहावनी लगती थी। इसलिये वे दोनों लोगों में समचित्त से होगये। कुलोचित कार्य करते हुए उन दोनों के बड़े दिवस व्यतीत होने लगे।



इसी बीच में विश्वप्रेमी भगवान् महावीर स्वामी इत स्तत विचरते हुए वहाँ पधारे। देवताओं ने उनके स्वागत में समवसरण की रचना की। कौशाम्बी नरेश जितारी भी प्रभु के वंदनार्थ वहाँ पर गया। समचित्त धर्मपाल और वसुपाल भी भगवान् का आगमन सुनकर आनन्द विभोर होते हुए केवली के दर्शनार्थ गये। भगवान् महावीर के दर्शन और वन्दन कर लेने के पश्चात् वे दोनों देशना के सुनने की उत्कण्ठा से वहीं किसी उचित स्थान पर बैठ गये। कुछ देर बाद श्री महावीर स्वामी ने धर्मदेशना देना प्रारम्भ की। भगवान् के श्रीमुख से निकले हुए वचनों को सुनकर धर्मपाल के चञ्चल चित्त में श्रद्धा उत्पन्न हुई और उसकी मानसिक भव्य भावना भी जागृत हो उठी। उसके नेत्र प्रफुल्लित हो उठे, आनन्द की मस्ती से उसका मस्तक झूमने लगा, प्रसन्नता के मारे उसके रोम रोम प्रहर्षित हो उठे और वह अपने कर्णपुटों में रखते हुए तथा भगवन्मुखारविन्द से निकले हुए वचनामृत को बड़े ही चाव और खुशी से पान करने लगा। दूसरे वसुपाल को तो वह देशना बालू रेत के ग्रास के समान निस्सार लगने लगा। उस समय वे दोनों एक दूसरे के भाव को परख गये। देशना के समाप्त होने पर वे दोनों व्याख्यान मण्डप से उठ कर अपने अपने घर चले गये। घर पहुँचने पर वसुपाल ने धर्मपाल से कहा कि हे भाई! भगवान की अमृत-स्यन्दिनी वाणी से तुम तो प्रभावित होगये किन्तु मैं नहीं हुआ इसका क्या कारण है? इतने दिन तक हम दोनों संसार में 'सम-चित्त' प्रसिद्ध थे किन्तु अब हम दोनों का चित्त विभिन्न होगया



प्रकार का याचना नहीं करना इत्यादि ये इस प्रकार के अत्यन्त कठिन तलवार की धार की तरह तीक्ष्ण 'असिधारा नामक' व्रत सज्जनों को किसने सिखाये ? अर्थात् किसी ने इसकी इनको शिक्षा नहीं किन्तु यह तो उनका स्वभावसिद्ध नियम है ।

यह शिष्टाचार प्रशंसा धर्मबीज का आश्रय होने से मृत्यु के उपरान्त मोक्ष का कारण होता है । इस बातको चार का उदाहरण देकर समझाते हैं ।

कौशाम्बी नगरी में सद्गुणों की खान, जैन धर्म का प्रेमी विश्वविश्रुत जितारी नाम का राजा राज्य करता था । उसके शासन काल में वहां की सारी प्रजा सुखी थी, सर्वत्र चैन की बंशी बज रही थी । अपने २ धर्म मार्गों पर चलते हुए लोग फूले न समाते थे । किसी को किसी प्रकार का दुःख न था । उसी नगरी में धन और पद्म नाम के दो सेठ रहते थे । धन के तो कुल को प्रसन्न करने वाला धर्मपाल नामक पुत्र हुआ और पद्म के धन के वृद्धि करने वाला वसुपाल नामक पुत्र हुआ । क्रमानुसार अत्यन्त सुन्दर वे दोनों स्वभाव सुलभ चपलता से परिपूर्ण शैशवावस्था के सुखों का अनुभव करते हुए युवावस्था को प्राप्त हुए ।

पूर्वजन्म के संस्कारों की प्रबलता से बचपन से ही उनमें क्षीर नीर की तरह परस्पर गाढ़ी मित्रता था । जो वस्तु एक को सुन्दर और सुहावनी लगती थी वही वस्तु दूसरे को भी वैसी ही सुन्दर व सुहावनी लगती थी । इसलिये वे दोनों लोगों में समचित्त नाम से प्रसिद्ध होगये । कुलोचित कार्य करते हुए उन दोनों के बड़े ही आनन्द से दिवस व्यतीत होने लगे ।




तुम दोना गाया को वहीं छोड़ उनके डर से भागकर एक पहाड़ की गुफा में छिप गये । वहाँ पर ध्यान लगाये हुए किसी मौना साधु को देखते ही धर्मपाल के जीवन ने अपने मन में विचार किया—अहो सदाचारी इस साधु का जन्म सफल है जा कि इस प्रकार निर्भय शान्त और रागरहित विराजमान है । देखो अधम से भी अधम हम धन की अभिलाषा से मनु यत्र के विरुद्ध आचरण करते हुई पद पद पर तिरस्कृत हो रहे हैं । अपनी बुरी आदत के कारण जगह जगह अपमानित होते वाले, अपने ही हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने वाले हम दानों न मालूम किस गति को प्राप्त होंगे । कहाँ ता स्मरण मात्र से पापा को दूर करने वाले इस साधु का निर्मल सदाचरण और कहाँ हमको नरक में लेजाने वाला इससे नितान्त विपरीत हमारा दुराचरण ! हे जीव ! कहा हमारा आत्म कल्याण फिर कैसे हो सकता है ?

इधर वसुपाल ने उस मुनि से उदासीनता प्रकट की । इस प्रकार इन दोनों म से एक को तो गुणानुराग से ज्ञान प्राप्त हुआ और दूसरा ऐसे हा ठिठकवा रहगया । फिर बाद में तुम दाना ने शरीर सम्बन्धी कषायो के योग से निर्दोष मनुष्य जन्म के योग कर्म बन्धन को प्राप्त किया ।

बाद में मर कर फिर तुम दोनों यहाँ वणिक धर्म परायण सदाचारी के महाजन घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुए हो । तुममें से एक को तो उस ज्ञान का फल प्राप्त हुआ और दूसरे को ज्ञान के अभाव से कुछ भी फल उपलब्ध न हुआ । इस प्रकार केवली द्वारा अपने पूर्व भव के वृतान्त को जान कर जाति स्मरण ज्ञान



है इसका करण मेरी समझमें नहीं आता। अपने मित्र के
मरे वचन सुनकर चकित हुए धर्मपाल ने कहा, 'सखे तुम्हा
कथन सत्य है, मेरे मन में भी इस समय इसी विषय पर क
प्रकार के सकल्प विकल्प उठ रहे हैं। भगवान् सर्वज्ञ हैं अत
वेही अपनी बात का निर्णय निश्चित रूप से करने में समर्थ हैं
इसलिये उन्हीं की सेवा में उपस्थित होना विशेष लाभदायक है।'
इस प्रकार वे दोनों निश्चय करके दूसरे दिन प्रात का
भगवान् महावीर स्वामी की सेवा में उपस्थित हुए। वन्दनान्त
उन दोनों ने विनय पूर्वक अपने दिल के सशय को दूर करने
लिये अपने चित्त की विभिन्नता का कारण पूछा।

उनके सशय निराकारण करते हुए भगवान ने कहा कि 'पूर्व
जन्म में तुम दोनों में से एक न किसी मुनि की प्रशसा की थी
उसका वृतान्त इस प्रकार है —

किसी गाँव में तुम दोनो पूर्वजन्म में कृषिक के पुत्र रूप में
जन्मे थे। ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों तुम्हारे शरार
की सुदरता और कांति बढ़ती गई तथा तुम्हारे ऊपर तारुण्य
ने भी अपना अधिकार जमा लिया शनै शनै तुम दोनों का
निन्द्य कर्मों के कारण ऐश्वर्य नष्ट भ्रष्ट होगया और तुम्हें अपने
अभिष्ट सम्पादन में बड़ी बड़ी अड़चनों और मुसीबतों का सामना
करना पड़ा। अपने मनारथों को सफल होते न देख तुम दोना ने
चोरी जैसे घृणित कार्यों का करना आरम्भ कर दिया।

एक दिन रात के समय तुमने गायें चुराई। जब इस बात
पता सिपाहियों को लगा तो उन्होंने तुम्हारा पीछा किया।

॥ अथ तृतीयो गुणः प्रारभ्यते ॥

अब तीसरे गुण में विवाह सम्बन्धी विवेचन किया जाता है। विवाह सम्बन्ध अपने ही समान कुलशील वाले तथा अपने से भिन्न गोत्र वाले व्यक्ति के साथ करना चाहिए। इस में अग्नि की साक्षी का विशेष माहात्म्य है शास्त्रोक्त रीति से विवाह आठ प्रकार का है —

(१) ब्राह्म्य (२) प्राजापत्य (३) आर्ष (४) दैव (५) गान्धर्व (६) आसुरी (७ राक्षसी (८) पैशाच।

कन्या को अलंकारों से सजाकर जो कन्या-दान दिया जाता है वह ब्राह्म्य विवाह कहलाता है। धन (दहेज) के साथ जो कन्यादान दिया जाता है वह प्राजापत्य विवाह कहलाता है। गो मिथुन सहित दिया जाने वाला कन्या दान आर्ष कहलाता है। जिस कन्यादान के साथ दूसरी कुछ भी वस्तु नहीं दी जाती वह विवाह दैव कहलाता है।

ये उपरोक्त चार प्रकार के विवाह धार्मिक नियमानुकूल हैं। माँ बाप और भाई आदि स्वजनों की अनुपस्थिति में बिना किसी प्रमाण के जो पति पत्नी का सम्बन्ध आपस के प्रेम से कायम कर लिया जाता है वह गान्धर्व विवाह कहलाता है। द्रव्य लेकर जो कन्या ब्याही जाती है वह आसुरी विवाह कहलाता है। सोती हुई तथा प्रमत्त कन्या का अपहरण करके जो बलपूर्वक विवाह सम्बन्ध स्थापित किया जाता है उसे पैशाचिक विवाह कहते हैं। पिछले ये चार प्रकार के विवाह सम्बन्ध अधर्म्य हैं किन्तु यदि वरवधू ने



को प्राप्त होता हुआ धर्मपाल बड़े ही श्रद्धा और विश्वास के साथ जिनोक्त धर्म का पालन करके सिद्धि को प्राप्त होगा और दूसरा वसुपाल बोधि बीज से उत्पन्न हुए शिष्टाचार के औदासीन्य से भा ससार में अधिक रहेगा।

ऐसा विचार करके श्रावक मात्र को चाहिये कि वह शिष्ट जनो का मुक्तकण्ठ से प्रशसा करे क्योंकि—

अकुर्वन्नपि सत्पुण्य, शिष्टाचार प्रशसया।
दम्भ संरम्भ मुक्तात्मा, प्राणी प्राप्नोति तत्फलम्॥१॥
बिभ्राणोऽपि गुण श्रेणी अन्येषु गुणमत्सरी
निमज्जत्येव ससारे, मुग्धो दु:खाकुलाशय ॥२॥

अर्थात् श्रेष्ठ पुण्य कार्य न करने पर भी, शिष्ट जनों के आचरण का प्रशसा के प्रताप से, पाखण्ड और क्रोध से रहित शुद्धात्मा प्राणी उस अवर्णनीय अविछिन्न परम सुख के फल को अवश्य प्राप्त करता है और जो प्राणी दूसरा के गुणों में ईर्ष्यालु है वह स्वयं गुणी होने पर भी दु:खा से लबालब भरे हुए इस ससार समुद्र में अवश्य गोते खाता है। इसमें तनिक भी सदेह नहीं। अत ज्ञानी जनों का सदैव शिष्टाचार प्रशंसक होना चाहिये जिससे वे इस ससार म उज्ज्वल कार्ति वाले उत्तम लाभ के अधिकारी और विशुद्ध धर्म के पालक हो तथा अन्त म मर कर परम पद के भोक्ता हो।

चाहिए। शुद्धतादि का ज्ञान वर और वधू के गुण की तथा रूप रंग की परीक्षा करने से होता है। शास्त्र कहता है कि—

कुलं च शीलं च सनाथताच,
विद्या च वित्तं च वपु र्वयश्च।
वरे गुणाः सप्त विलोकनीया,
स्ततः परं भाग्यवती च कन्या ॥१॥

मूर्खनिर्धनदूरस्थशूर मोक्षाभिलाषिणाम्।
त्रिगुणाधिकवर्षाणां चापि देया न कन्यका ॥२॥

अर्थात् मनुष्यमात्र को चाहिए कि वह अपनी कन्या का विवाह करने के पहले जिस पुरुष के साथ वह अपनी कन्या का सम्बन्ध स्थापन करना चाहे उसमें कुल, शील, सनाथता, विद्या, शरीर सबधा सारी बातें आयु और मन इन सात बातोंको अवश्य देखें। इन गुणों से युक्त पुरुष के साथ अपनी कन्या का विवाह करदे। इस पर भी कन्या को यदि दुःख हो तो फिर वह उसके भाग्यकी बात है। इसके सिवाय जो मूर्ख हो निर्धन हो, परदेश में बहुत दूर रहता हो, शूरवार और मोक्ष का इच्छुक हो तथा जो कन्या से तिगुनी आयु से अधिक बड़ा हो उसे भी कन्या न देनी चाहिये।

इस तरह वर की परीक्षा के नियम बताकर अब शास्त्र वधू की परीक्षा के नियमों का निर्देश करता है —

बन्धु लक्षण लावण्य कुल जात्याद्यलङ्कृताम्।
कन्यकां वृणुयाद्रूपवतीमव्यङ्गविग्रहाम् ॥ १ ॥

परस्पर मिलकर प्रेमपूर्वक व्यवहार किया हो तो वे अधर्म्य भी धर्म्य हो सकते हैं।

अब यह प्रश्न उठता है कि विवाह किसे कहते हैं? मनुष्य जीवन संग्राम की कठिनाइयों को दूर करने के लिए शुद्ध शास्त्र लक्षण युक्त स्त्री रूपी सहायता को प्राप्त करना है उसका नाम विवाह है। क्योंकि शास्त्र वर्जित लक्षण वाली स्त्री से विवाह सम्बन्ध होने पर मनुष्य को नरक फल भोगना पड़ता है। अशुभ लक्षणों वाली स्त्री कलहकारिणी और व्यभिचारिणी होती है जिसके कारण उसके पति को इस लोक में तरह तरह के दुख उठाने पड़ते हैं और उसकी अपकीर्ति सर्वत्र फैल जाती है तथा परलोक में दुर्गति प्राप्त होती है। कहा है—

कुग्राम वास कुलहीन सेवा
कुभोजन क्रोधमुखी च भार्या।
कन्या बहुत्व च दरिद्रता च
षड्जीव लोके नरका भवन्ति ॥ ॥

अर्थात् असभ्य और खराब गाँव में रहना, कुलहीन (नीच) पुरुषों की सेवा करना, खाने के लिये खराब भोजन मिलना, हर समय नाक भौंह चढ़ाने वाली कलह प्रिया स्त्री का मिलना, बहुत सी कन्याओं का होना और दरिद्र होना ये संसार के छ नरक होते हैं जो अन्त में अधोगति के कारण होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अशुभलक्षण वाली कन्या से पुरुष का और अशुभ लक्षण वाले पुरुष से कन्या का विवाह नहीं करना



प्राचीन काल में प्रकृति की रम्य क्रीड़ास्थली की उत्सग में शोभायमान, धन और वैभव परिपूर्ण वसन्तपुर नामक का नगर था। वहां पर उन दिनों में परम प्रतापी, परमार्हत जित शत्रुराजा राज्य करता था। उसके शासनकाल में प्रजा सुखी थी सर्वत्र आनंद ही आनंद लहलहा रहा था। नगर का वैभव दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता ही जाता था। इसी समृद्धि-शाली नगर में जिनदत्त नाम का श्रावक रहता था वह अपने कर्तव्य पथ पर अविचल गति से सदैव अप्रमत्त होकर चला करता था। जीव अजीव के तत्व का भी वह विशेष ज्ञाता था। शंका आकांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि- प्रशंसा और परिचयरूपी अतिचार से रहित तथा लक्ष्मी और सम्यक्त्व इन दोनों से शोभायमान था। उसके नारीगुणयुक्त पतिभक्ति परायणा स्त्री थी जो रूप व गुणमें अपनी समता पूर्ण रखती थी। समय पर उसके गर्भ से रूप लावण्य से युक्त, शुद्ध श्राविका के श्रेष्ठ गुणों से युक्त एक पुत्री ने जन्म लिया। उसके बड़ी होने पर कई रूप रस के प्यासे वर रूपी मधुकर उसके वरणार्थ आने लगे परन्तु जिनदत्त ने पहले से ही निश्चय करलिया था कि अपनी कन्या श्रावक पुत्र छोड़कर धर्मी अन्य का न दूंगा इसलिये जितने भी वरणार्थी आये उन सबको निराश हो उल्टे पांव लौटना पड़ा। शास्त्र भी इस विषय पर विवेचन करता हुआ लिखता है कि—

विवेकिना धर्मयशोभिवृद्ध्यै,

सम कुलाधारमिहावलोक्य ।

[1]अष्टमादपेतोयावद्वर्षमेकादश भवेत् ।

तावत्कुमारिका लोके न्यायमुद्वाहमर्हति ॥२।

बन्धुओं, शास्त्रोक्त लक्षणों, सौन्दर्य और वयकुल तथा उत्तम जाति से संयुक्त, रूपवती दुर्भंगादि दोषरहित अंगवाली कन्या के साथ विवाह करे। आठवें वर्ष से लेकर ग्यारहवें वर्ष तक कन्या न्याय पूर्वक विवाह करने के योग्य है। इस प्रकार शास्त्रोक्त रीति से स्त्री पुरुष का विवाह होने पर उन्हें धर्म, शोभा यश और शान्ति से बने हुए ऐहिक गार्हस्थ सुख की प्राप्ति होती है। अगर इसकी परवाह न करके शास्त्र विधि का उल्लंघन कर दिया जावे तो गार्हस्थ जीवन बड़े दुःख से व्यतीत होता है, घर में निरंतर कलह रहता है और संसार में कलङ्क का भागी होना पड़ता है हिन्दी के कविसम्राट तुलसीदासजी भी अपने अमर काव्य रामायण में अशुभ लक्षणों वाली स्त्री को शोचनीय बताते हैं—

शोचिय पुनि पतिवंचकनारी ।

कलह कुटिल निज इच्छाचारी ।

पति को धोखा देनेवाली दिनरात घर में कलह करनेवाली अपनी इच्छानुसार घूमनेवाली कुटिल स्त्री शोचनीय है इससे यह सिद्ध होता है कि परस्पर में असमानता होने से कलह कलंक आदि और कई अन्य प्रकार के दुःखों की प्राप्ति होती है इस बात की पुष्टि में नीचे सुभद्रा का उपाख्यान लिखते हैं—

नोट—1 देश कालादि की अपेक्षा के नियमानुसार ।



चरण छुए । सब ओर से आशीर्वादों का झड़ी लग गई । इस प्रकार नव परिणीता वधू अपने ससुराल वालों से आदर पाकर फूली न समाई । पर यह दृश्य थोड़े ही दिन रहा ।

वह एक उच्च कुल की जैन श्राविका थी । अत उसके दैनिक कृत्यों को देख कर उसकी सास और ननन्द बौद्ध श्राविक होने के कारण उसकी निंदा करने लगे । इसलिए उसने अपनी सास और ननन्द से किनारा लेना ही अच्छा समझा । यह सोच कर वह अपने पति के साथ उनसे अलग हो गई । वहाँ पर कई साधु साध्वियें गोचरी आदि का लाभ देने के लिए आने लगी । यह देख कर उसकी सास और ननन्द के दिल में ईर्ष्या उत्पन्न हुई और उन्होंने उसके पति से यह शिकायत की कि यह साधु सक्ता है तुम इसे त्याग दो । पति को अपनी माता के वचनों पर विश्वास न हुआ अत उसने उसका कहना न माना ।

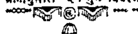
एक समय रूप लावण्य से परिपूर्ण, गुणी, मूर्तिमान चारित्र के समान कोई जैन साधु गौचरी के लिए विचरता हुआ सुभद्रा के घर पहुँचा । हवा से उड़ता हुआ कोई तृण उनकी आँख में पड़ गया तो भी उसने सहनशील होने के कारण उस ओर जरा भी ध्यान न दिया । पास में खड़ी हुई सुभद्रा ने मुनिराज के नेत्र की हानि न हो इस बात का विचार कर बड़ी ही चतुराई के साथ अपनी जीभ द्वारा उस तृण को बाहिर निकाल दिया । उस समय उसके ललाट पर लगा हुआ तिलक उस साधु के ललाट पर भी लग गया । इस बात का पता न तो मुनिराज को ही चला और न सुभद्रा को ।

वराय शुद्धाय सुता प्रदेया,
नेया तथान्याऽपि सुखोदयाय ॥ १ ॥

अर्थात् ज्ञानी मनुष्य को चाहिए कि वह इस लोक म अपने धर्म और यश की वृद्धि के निमित्त समान कुल और शील को देख कर सदाचारी वर को अपनी कन्या दे और इसी तरह अपने कल्याण क लिए स्वय भी योग्य कन्या से विवाह करे।

एक समय कोई बुद्धदास नामक बौद्ध श्रावक व्यापार के लिए चपा नगरी से आया। वहाँ पर सुर सुन्दरी क समान सुन्दर सुभद्रा को देख कर उस पर मोहित होगया पर वह कर क्या सकता था। अन्त में वह अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए कपट रीति से जैन श्रावक बना। प्रतिदिन जैनाचार्यों से धर्मोपदेश रूपी अमृत का पान करने लगा। सामायिक प्रतिक्रमण आदि धार्मिक कृत्य भी नियमानुसार करने लगा। इस प्रकार करते करते वह क्रम स तत्व को पहचानने लगा और भाव श्रावक बन गया। उसकी इस प्रकार की दिन चर्या देख कर जिनदत्त ने अपनी कन्या उसे ब्याह दी। विवाह होने के पश्चात् वह अपनी धर्म प्रिया प्राण प्यारी सुभद्रा को लेकर अपनी जन्मभूमि चम्पा नगरी को लौट गया।

सुभद्रा भी चिरकाल से परिचित अपने पितृगृह को छोड़ कर एक पतिव्रता सती स्त्री की तरह अपने जीवन भर के सुख दुःख के साथी पति के साथ ससुराल पहुँची। वहाँ पर उसने समयोचित और शास्त्रोक्त रीति से अपने सास-ससुर आदि के



जायगा।" शासन देवता के कथनानुसार सुबह होने पर सुभद्रा पहले बतलाये हुए तरीके से शहर के तीन फाटक खोलकर तथा यह कहकर कि 'दूसरी कोई सती इस चौथे फाटक को खोलेगी' अपने घर चली गई।

सुभद्रा के इस अद्भुत कार्य से जैन शासन की अच्छी प्रभावना हुई। उसका श्वसुर कुल, राजा तथा सारा शहर प्रबोध पाकर अतीव प्रसन्न हुआ।

ऐसी सती स्त्रियां को बहुत विरली माताएं ही जन्म देती हैं अत परीक्षा पूर्वक ही विवाह सम्बन्ध के लिए प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि वधू रक्षा के प्रयत्न करते हुए मनुष्य को ही अति जात और सुजात पुत्र रूपी फल की प्राप्ति होती है और वह उसे पुन्नाम के नरक पतन से बचाता है। शास्त्र में पुत्र चार प्रकार के बतलाये गये हैं। जैसे—

जात, पुत्रोऽनुजातश्च, अतिजातस्तथैवच।
अपजातस्तु लोकेऽस्मिन् ,मन्तव्य.शास्त्रवेदिभि.॥१॥

अर्थात जात, अनुजात, अतिजात और अपजात ये चार प्रकार के पुत्र होते हैं। अब यह प्रासंगिक प्रश्न उठता है कि इन चारों की व्याख्या क्या है ? इसका उत्तर देता हुआ शास्त्र, लिखता है कि—

मातृ तुल्य गुणो जात अनुजातः पितुस्सम.।
अतिजातोऽधिक. तस्मात् अपजातोऽधमाधमः॥



मुनिराज क वापिस लौटने पर उसकी सास आदि ने उसके पति को उसके ललाट के तिलक को साधु के ललाट में लगा हुआ दिखलाया। यह दृश्य देखकर उसने अपने दिल में विचार किया, "अहो विषय वासना अत्यन्त बलवती होती है। वह धर्मात्मा प्राणी को भी पतित कर देती है।" उसी दिन से सुभद्रा के प्रति उसका प्रेम दिनो दिन क्षीण होने लगा। चतुर सुभद्रा भी प्रेमाभाव के कारण को तुरन्त ही ताड़ गई। रात्रि में वह उस मिथ्या कलंक को दूर करने के लिये कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित रही। उसके शील को जानने वाली शासन देवी उसके समक्ष प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हुई और उसने कहा, "सुभद्रे! कहो !! मैं तुम्हारा कौनसा मनोरथ पूर्ण करू?"

शासन देवी के मुखारविन्द स निकले हुए साहस बढाने वाले वचन सुनकर सुभद्रा ने विनीत भाव से उससे यह प्रार्थना की कि हे देवी! आप मेरे इस मिथ्या कलंक को दूर कर शासन को प्रभावित करो। सुभद्रा की प्रार्थना का आदर करती हुई शासन देवी ने उत्तर दिया, "कल प्रात काल मैं नगर के सभी फाटक बंद कर दूंगी। जब नगरनिवासी पूरे परेशान हो जायेंगे तब मैं आकाशवाणी द्वारा पुरवासियों को कहूँगी कि मन, वचन और काया स शुद्ध शीलवाली यदि चालनी म पानी लेकर तीन बार द्वार के किवाड़ों पर जल छिड़के तो दरवाजे शीघ्र खुल जायँ। नगर की स्त्रिया क देखते हुए, दूसरी स्त्रिया के बतलाये हुए कार्य असफल होने पर तुम इस कार्य को करना जिससे तुम्हारा अपवाद दूर हो जायगा और ससार में तुम्हारी कीर्ति फैल



व्यवहार आदि के कष्टों से वधू का जीवन बड़ा ही दुखमय होता है।

यह तो केवल गृह कार्य ही बतलाया गया है अब कुछ और भी इस के उपाय बतलाये जाते हैं। सर्व प्रथम तो उपाय यही है कि स्त्री को कभी स्वतंत्र नहीं होने देना चाहिये, क्यो कि परतन्त्रता की अवस्था में ही स्त्री के शील की रक्षा हो सकती है। यदि स्त्री को थोडी ही स्वतन्त्रता मिल जाय तो उसे स्वैरिणी बनते तनिक भी देर नहीं लगती। शास्त्र भी स्त्रिया को स्वतंत्र रखने की सख्त मनाई करता है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्राश्च स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति॥

अर्थात् कुमारावस्था में उसकी रक्षा का भार पिता पर रहता है युवावस्था में उसकी रक्षा उसका पति करता है और वृद्धावस्था में उसकी रक्षा उसके पुत्र करते हैं इसलिये स्त्री को कभी स्वतन्त्र नहीं रखना चाहिये। केवल इतना ही नहीं शास्त्र तो 'स्त्रियों की शील रक्षा के निमित्त अपनी यहा तक व्यवस्था देता है कि कुलीन स्त्रियों को घरके दरवाजे पर नहीं बैठना चाहिये। नाटक सिनमा और खेल तमाशे भी नहीं देखने चाहिये। झरोखों में भी मुँह निकाल कर नहीं बैठना चाहिये। अपने गोपनीय कुक्षी, स्तन आदि अंगों को भी अंगड़ाई लेते वक्त या और किसी प्रकार प्रकट नहीं करना चाहिये। पर पुरुष के साथ भाषण नहीं करना चाहिये क्योंकि य मन शील रक्षण में घातक स्वरूप हैं।

जो पुत्र माता के समान गुणी होता है वह जात कहलाता है पिता के समान गुणी अनुजात और उससे अधिक गुणी अतिजात तथा अधम से अधम पुत्र अपजात कहलाता है।

वधु स्थिरचित्त वाली, गृह कार्य में कुशल कुलीन और पति व्रता तथा देवता, अतिथि और बन्धुओं का सत्कार करनेवाली एवं निर्दोष होनी चाहिये।

अब यह प्रश्न आगे आता है कि वधु रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये? इसका तो यही उत्तर होसकता है कि पति को चाहिये कि वह अपनी स्त्री को गृह कार्य में इस प्रकार संलग्न करदे कि एक के बाद दूसरा काम उसके सामने अपने आप उपस्थित होता रहे और उसे व्यर्थ की बातचीत करने का अवसर ही प्राप्त न हो। कहामा है—

शय्योत्पादन गेह मार्जन पयःपावित्र्यचुल्लीक्रिया,
स्थाली क्षालन धान्य पेषणभिदा गोदोहतन्मन्थनैः।
पाकै स्तत्परिवेषणैः समुचितैः पात्रादिशौचक्रिया,
श्वश्रू भर्तृननान्ददेवृ विनयैः कष्टं वधूर्जीवति॥

अर्थात् शय्या (खाट) उठाना, घर की सफाई करना, जल भरना, रसोई के स्थान को लीप पोत कर पवित्र करना, रसोई के पात्र मांज धो कर साफ रखना, गाय भैंस को दूहना, दूध को जमा कर मन्थन करना, रसोई बनाना, बनाये हुए पाक को परो सना, झूठे पात्रों को धोकर पुन पवित्र करना इत्यादि गृह कार्यों से तथा सास, पति, ननन्द और देवर आदि के साथ विनय



आदि के साथ विनीत भाव से पेश आने वाली, सास के प्रति सदैव शुद्ध भक्तिभाव रखनेवाली, अपने कुटुम्बियों से अत्यन्त स्नेह रखनेवाली, सेवकों पर उदार भाव और कृपा दृष्टि रखने वाली अपनी सौतों में भी सदैव ईर्ष्या रहित और प्रसन्न मनवाली अपने पति के मित्रों के साथ हँसी मजाक के वचन बोलने वाली तथा उसके शत्रुओं की ओर घृणा की दृष्टि से देखनेवाली स्त्रियों का परम पवित्र चरित्र पतियों के लिये सञ्जीवन औषध के समान है।

इसलिये अपनी आत्मा का उद्धार करनेवाले मनुष्य मात्र को चाहिये कि जिस कन्या के साथ वह अपना पाणिग्रहण करे उसकी शास्त्रोक्त रीति से सर्व प्रथम परीक्षा करे। विवाह के पश्चात् उपरोक्त व्यापारों और संसर्गों से सदैव उसे बचाये रखे। ऐसा करने से गृहस्थ अपनी शीलवती स्त्री के प्रताप से इहलोक में सुख और यश का भागी होगा और देवता, अतिथि आदि को प्रसन्न और तृप्त करने के कारण पुण्य कर्मों द्वारा परलोक में सद्गति का अधिकारी होगा।

॥ अथ चतुर्थो गुणः प्रारभ्यते ॥

पापभीरु होना भी गृहस्थों के लिये अत्यावश्यक है इसलिये अब चतुर्थ गुण में पापभीरुता का विवेचन करते हैं।

संसार में मनुष्य जीवन में जो दृष्ट और अदृष्ट विघ्न और बाधाएं उपस्थित होती हैं उनकी उत्पत्ति के कारणों को पाप नाम से पुकारते हैं। न्याय शास्त्र का भी यही सिद्धान्त है कि "कार्य गुणा

बौद्ध साध्वी, वेश्या, दासी, व्यभिचारिणी स्त्री और चित्रकार की स्त्री इनका संग भी कुलीन स्त्रियों को दूषित कर देता है। इस लिये इनसे भी बचते रहना चाहिये। जो जो कार्य सतियों का भी शील से गिरा देते हैं उन्हें शास्त्र मुख से यहाँ बतलाते हैं

यात्राजागर दूरनीरहरण मातुर्गृहेऽवस्थिति-
र्वस्त्रार्थं रजकोऽपसर्पणमपि स्यात् दूतिका मेलकः।
स्थानभ्रंशसखी विवाहगमनभर्तृ प्रवासादयो,
व्यापारा: खलु शीलजीवितहरा: प्राय: सतीनामपि॥

यात्रा, जागरण, दूर जगह से पानी लाना, पीहर में रहना, वस्त्रों के लिये धोबी के पास जाना, दूतिया के साथ मेल रखना अपनी जगह छोड़ना, अपनी सखियों व विवाह आदि में जाना पति का परदेश में रहना इत्यादि ये कार्य प्रायः करके सति स्त्रियों के भी शील रूपी जीवन को हरण करने वाले हैं। अतः स्त्रियों को चाहिये कि वे अपने शील की रक्षा निमित्त इन कार्यों से सदैव कोसों दूर रहें। इसी में उनका भला है। अब शास्त्रोक्त रीति से स्त्रियों को उपदेश देते हुए इस तीसरे गुण को हम समाप्त करते हैं।

निर्व्याजा दयिते ननान्दृषु नता श्वश्रूषु भक्ता सदा,
स्निग्धा बन्धुषु वत्सला परिजने स्मेरा सपत्निष्वपि॥
पत्युर्मित्रजने सनर्मवचना खिन्ना च तद्द्वेषिषु,
स्त्रीणां संवननं नतभ्रु! तदिदं वीजौषधं भर्तृषु॥१॥

हे सुभ्रु! पति के साथ निष्कपट व्यवहार करने वाली, ननद



चोरी करनेपर किसका सर्वनाश नहीं हुआ? अर्थात सबका सत्यानाश हुआ। वेश्यागामी कौन पुरुष धनहीन और पुण्यहीन नहीं हुआ? कहाँ तक कहें, परस्त्री में आसक्त रावण जैसा शूरवीर भी राम के बाणों का शिकार हुआ। अतः जुआ, चोरी, मदिरापान, मांस भक्षण और व्यभिचार आदि शास्त्रनिर्दिष्ट अधोगति को प्राप्त कराने वाले कर्मों का परित्याग करना ही संसार में श्रेयस्कर है। क्योंकि पञ्चेन्द्रिय प्राणियों के मारने में आसक्त मांस भोजी प्राणियों को नरक में नाना प्रकार के असह्य कष्टों को भोगना पड़ता है।

अब हम प्रसंगवश प्राप्त हुए मांस भक्षण के विषय में शास्त्रीय और वैज्ञानिक विवेचन करते हैं।

सर्व प्रथम यह प्रश्न उठता है कि मांस खाना उचित है या अनुचित?

इसका सीधा सा उत्तर यह है कि मद्य और मांस ये राक्षस भूत, पिशाचादिकों के भक्षण हैं देवता और मनुष्यों के नहीं, अतः मनुष्यों का उचित है कि देवताओं के निमित्त भी पशु मारकर उसका मांस का बलि न दें और न स्वयं खावें। कारण— देवताओं और मनुष्यों के लिये इस प्राकृतिक सृष्टि में फल फूल कंद वगैरह के मेवे आदि अनेकों उत्तम पदार्थ सुलभ हैं अतः मनुष्य को निरामिष भोजन करना ही उचित है। मांस खाना नीति, धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन सबसे विरुद्ध तथा हानिकारक है। अतः धर्म, अर्थ, और मोक्ष चाहने वालों को मांस कभी नहीं खाना चाहिये।

कारण गुणेनारभते " अर्थात कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। इसलिये इस ससार में जो हमें बुरे फल भोगने पड़ते हैं, जो विघ्न और कठिनाइयाँ हमारे सामने उपस्थित होती हैं उनके कारण हमारे किये हुए बुरे कर्म हैं और उन्हीं बुरे कर्मों को पाप कहते हैं। चोरी परस्त्रीगमन जूआ खेलना आदि ये दुष्ट विघ्नों के कारण हैं। चोर, व्यभिचारी और जुआरी मनुष्य का लोगों में न तो कोई आदर होता है और न कोई उसका विश्वास ही करता है तथा सारा सभ्य ससार उसे घृणा की दृष्टि से देखता है। यहाँ तक कि कोई २ उसे अपने पास तक नहीं आनेदेता उसे इस लोक में अनादर, बन्धन, दण्ड आदि कई कष्ट भोगने पड़ते हैं। शास्त्र भी उदाहरण सहित इस बात का समर्थन करता हुआ लिखता है कि—

द्यूताद्राज्यविनाशनं नलनृप प्राप्तोऽथवा पाण्डवा'
मद्यात्कृष्णनृपश्च राघवपिता !पापर्द्धितो दूषित. ॥
मांसा च्छ्रेणिक भूपतिश्च नरके चौर्याद्विनष्टा न के ?
वेश्यात क्रूनपुण्यको गतधनोऽन्यस्त्री रतो रावण.॥१॥

राजा नल और पाण्डव लोग जुआरी होने के कारण अपने पूर्वजों के बाहुबल से उपार्जित राज्य से हाथ धो बैठे। राजा कृष्ण और समस्त यदुवंश का मदिरापान से सहसा सर्वनाश होगया। रामचन्द्र के पिता राजा दशरथ को शिकारी होने के कारण पुत्र के वियोग का दु ख सहना पड़ा। मांसभोजी होने से राजा श्रेणिक को नरक का आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा।



अर्थात् पशुवध की सलाह देने वाला, मास को साफ करने वाला जीव का वध करने वाला और मास को खरीदने वाला, पकानेवाला, बेचने वाला और खिलाने वाला, ये आठो वधिक के समान अपराधी व पापी हैं।

मास शब्द का अर्थ करते हुए मनुमहाराज लिखते हैं–

मास भक्षयिताऽमुत्र तस्य मास मिहाद्म्यहम्
एतन्मासस्य मासत्व प्रवदन्ति मनीषिण.

(मनु ५—५५)

इस लोक में जो जिसके मास को खाता है परलोक में वह उसके मास को अवश्य खायगा। पण्डितों ने मास शब्द का यही अर्थ किया है। अत मास खाना नीति और धर्म से विरुद्ध है।

धार्मिक दृष्टि से मासाहार का निषेध

हिन्दुओं के वेदशास्त्रो ने 'अहिंसा परमोधर्म' मा माहिंसी' कहा है अर्थात् प्राणीमात्र पर दया करना मनुष्य का परम धर्म है। इस विषय का अन्य धर्माचार्यों ने भी एकमत होकर मुक्त-कठ से समर्थन किया है कि अपने शत्रु पर भी दया करो, किसी को भी किसी तरह की पीड़ा न पहुँचाओ।

हजरत ईसा ने बाइबिल में फरमाया है कि "जो तुम्हारे बाय गाल पर थप्पड मारे तो तुम दाहिना गाल भी उसके सामने कर दो। तुम अपने वैरियों से भी प्यार करो। जो तुम्हें शाप दे उसे आशीर्वाद दो। जो तुम्हारी बुराई करे उसको

नैतिक दृष्टि से मांसाहार का निषेध

चाहे आस्तिक हो या नास्तिक यदि न्याय की दृष्टि से देखा जाय तो मांस खाना सर्वथा अन्याय है। कारण मांस कोई घास या लकड़ा नहीं है और न वह किसी वृक्ष के ही लगता है तथा न उसकी कोई खेती ही होती है जो न्यायपूर्वक प्राप्त हो सके। यह तो इसके विपरीत निरपराधी मूक पशुओं का निर्दयतापूर्वक हनन करने पर मिलता है अतः मांस खाना नीति से विरुद्ध है। इसी बात को निम्नलिखित महाभारत का श्लोक पुष्ट कर रहा है।

> नहि मांसं तृणात्काष्ठादुपलाद्वापि लभ्यते।
> हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्मात् दोषस्तु भक्षणे ॥१॥

नीति कहती है कि संसार में प्राणों से अधिक प्रिय कोई अन्य वस्तु नहीं है। जैसे मनुष्य को अपने प्राण प्यारे होते हैं वैसे प्रकार सभी जीवों को भी अपने प्राण प्यारे होते हैं। यदि मांस खाने वाले व्यक्तियों के प्राणों का अपहरण करें तो उन्हें कितना भारी दुःख होता है! अतः बिना अपराध किसी को दुःख देना अन्याय अर्थात् पाप है। न्यायाधीश मनुजी तो यहाँ तक फरमाते हैं कि—

> अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रय विक्रयी।
> संस्कर्ता चोपहर्ता च, खादकश्चेति घातका ॥
> (मनु अ ५, श्लो ५१)



चाहता है तब उसकी रुचि मद्य की ओर भी दौड़ती है क्योंकि मास और मदिरा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहा ये दोनो मित्र इकट्ठे होते हैं वहा व्यभिचारादि अनेक दोषो का भी अवश्यमेव प्रादुर्भाव हो जाता है। इस विषय में हम एक कवि और भिक्षुक के संवाद का श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं —

भिक्षो! मांसनिषेवणं किमुचितं, किं तेन मद्यं विना,
मद्यं चापि तव प्रियं प्रियमहो! वाराङ्गनाभिस्सह।
वेश्या द्रव्य रुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा,
चौर्यं द्यूत परिग्रहोऽपि भवतो भ्रष्टस्य काऽन्यागतिः ॥१

किसी कवि ने एक भिक्षुक के हाथमें मास देखकर पूछा कि भिक्षो! क्या मांस खाते हो? क्या मास खाना उचित है? भिक्षुक ने उत्तर दिया कि हा खाता हूँ परन्तु मद्य के बिना उस का स्वाद अच्छा नहीं लगता। तब कवि ने पूछा कि क्या मद्य भी तुम्हें प्रिय है? भिक्षुक ने उत्तर दिया कि हा वैश्याओं के साथ मदिरा भी हमें बहुत प्यारी है। कवि ने कहा कि वैश्याएं तो धन चाहती हैं और तुम्हारे पास धन कहा? भिक्षुक ने उत्तर दिया कि धर्मभ्रष्ट की और क्या गति होती है अर्थात् मास खावेंगे तब हम सब काम करने पड़ेंगे। चोरी या जूए से हमें धन भी कमाना पड़ेगा।' अत मास खाना धर्म से सर्वथा विरुद्ध है।

अदृष्ट अपाप के कारण रूप, मद्य, मास, और व्यभिचार आदि के सेवन करने से मनुष्य नरक के दुःखों को भोगता

भराइ करो । जो तुम्हारा अपमान करे और सतावे उसके लिए भी प्रभु से प्रार्थना करो । जिससे तुम स्वर्गवासी पिता की सन्तान होवो अर्थात् ईश्वर के पुत्र कहलाओ ।"

इसी प्रकार हदीस में लिखा है कि "जनाब रिसाल तमा वसले अल्लाह अलहे वसल्लम ने फरमाया है कि सम्पूर्ण सृष्टि अल्लाह की औलाद है । इसलिए मनुष्य को चाहिए कि जैसे सहानुभूति अपनी औलाद के साथ करे वैसी ही सारी सृष्टि के साथ करे ।" इससे यह सिद्ध होता है कि करुणामय होना अथवा एक दूसरे के साथ सहानुभूति रखना समस्त धर्मों का उद्देश्य है । अर्थात् दया ही सब धर्मों का मूल है ।

दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान ।
तुल्सी दया न छोड़िये जब लग घटमें प्राण ॥

अब सब धर्मावलम्बियों को विचारना चाहिए कि मांस भक्षण से फिर दया कैसे स्थिर रह सकती है ।

मांस भक्षण करने से तमोगुण की वृद्धि होती है । मनुष्य में निर्दयता, कठोरता, क्रूरता, गर्व, अभिमान, क्रोध और अज्ञान इत्यादि दुर्गुण आ जाते हैं । मांसाहारी की बुद्धि तमोगुण से आच्छादित होने पर विवेकहीन और मन्द हो जाती है । इस लिए वह धर्माधर्म के विषय में कुछ भी समझ नहीं सकता । अर्थात् वह धर्म को अधर्म, पाप को पुण्य, हित को अहित मान कर मानव धर्म को भूल जाता है ।

सारांश यह है कि जब मनुष्य का चित्त मांस खाना



वस्तुओं को खरीदने का विचार किया लेकिन विमल ने उनके व्यापार को भङ्ग कर दिया।

वहाँ से आगे चलते हुए वे दोनो फिर किसी बीच में आने वाले गाँव में ठहरे। वहाँ पर उनके पास धीवर लोगों ने आकर जाल बनाने के लिये सूत मांगा। सहदत्त शान्त हो सूत देने के लिए तैयार होगया किंतु विमल ने उस सूत देना पाप समझ शीघ्रही मना कर दिया। वहाँ से रवाना होकर वे थोड़े ही दिनों में कनकपुर जा पहुँचे।

वहाँ पर पहुँच कर थोड़ी देर विश्राम लेने के पश्चात विमल ने भोजन पकाना शुरू किया। इसी बीच में आकर एक सेठ ने विमल से आग मागी किंतु विमल ने उसे बिलकुल मना कर दिया। तब क्रोधित होकर उस देव ने मायावी सेठ के रूप को छोड़कर अपने असली राक्षसी रूप को धारण करलिया और विमलको डराने लगा किंतु विमल ने उसकी तनिक भी परवाह न की। तब राक्षस ने विमल से कहा कि यदि तू अग्नि देगा तो तुझे छोड़ दूंगा नहीं तो तेरी जान ले लूंगा। राक्षस के वचन सुनकर विमल ने निर्भयता पूर्वक उत्तर दिया कि हे राक्षस! अग्नि सब तरह से शस्त्र है अतः श्रावक लोग इसे देने में पाप समझते हैं। शास्त्रों में भी लिखा है कि "पापभीरू श्रावक को चाहिये कि वह मधु, माँस मदिरा शस्त्र अग्नि और यन्त्र मन्त्र आदि किसी को न दे। इसलिए मैं तुम्हें अग्नि न दूंगा चाहे मेरी प्राण हानि भी क्यों न हो।

विमल के निर्भय वचन सुनकर राक्षस बहुत प्रसन्न हुआ और उसने अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट करके कहा ' विमल ! स्वर्ग



है। इसलिए विमल की तरह इन सब का त्याग करके उसे पाप भीरु बन जाना चाहिये क्योंकि जो मनुष्य पापभीरु होता है उसे सब सम्पत्ति अपने आप आकर घेर लेती हैं। इस की पुष्टि में विमल सेठ का दृष्टान्त दिया जाता है।

विमल सेठ का दृष्टान्त

कुशस्थल नामक नगर में विमल और सहदेव नामक दो वणिक पुत्र रहते थे। विमल पापभीरु था और सहदेव पापाचरण से परिपूर्ण। एक दिन उन दोनों ने गुरु के पास एकही साथ सम्यक्त्व सहित श्रावक के बारह व्रतों को ग्रहण किया। कुछ समय के पश्चात् वे दोनों व्यवसाय के लिये विदेश को रवाना हुए। जाते जाते मार्ग में राहगीरों ने विमल से मार्ग पूछा पर उसने यही उत्तर दिया कि मैं मार्ग नहीं जानता।

दूसरे सब लोग श्रावस्ती नगरी में व्यापार सम्बन्धी अधिक लाभ सुनकर उसकी ओर चलपडे। किन्तु मार्ग में बहुतसे छोटे २ मेंढकों को देख कर वह उधर नहीं गया और उसने सीधा कनकपुर की राह ली।

मार्ग में आने वाले किसी एक गाँव में गुलो, भौंरों की शहद, नमक और बहुत पुराने तिल आदि पापोत्पादक कई पदार्थ सस्ते भाव से बिक रहे थे किन्तु विमल ने इनमें से किसी एक को भी नहीं खरीदा। गाँव के लोग मक्खन को तपा उसका घी बना कर बेचते थे किन्तु विमल पापभीरु होने के कारण उसे नहीं खरीद सका। सहदेव ने उपरोक्त पाप रूपी दलदल में फँसादेने वाली



करने से तथा अपनी प्रशंसा करने से कर्म बन्धन बधते हैं और जन्म जन्मान्तरों में उस नाच वंश में ही जन्म मिलता है।

जो मनुष्य सत्पुरुषों की निंदा करता है वह उस निंदा से अपने आप को ही दूषित करता है। क्योंकि जो मनुष्य आकाश में सूर्य के सामने धूल फेंकता है वह उसी पर आकर गिरती है। पक्षियों में कौआ चाण्डाल माना जाता है, पशुओं में गधा चाण्डाल होता है और मनुष्यों में कोई चाण्डाल होता है। इन सब चाण्डालों से भी अधिक चाण्डाल परनिंदा करने वाला होता है। अनादर से तप की वृद्धि होती है और आदर से तप का क्षय होता है तथा पूजा से पुण्य की हानि होती है एवं निंदा से असद्गति प्राप्त होती है। अपनी प्रशंसा, दूसरे की निंदा, महा पुरुषों के गुणों में मत्सर और बिना अवसर और सम्बन्ध के वृथा बकवाद करना पुण्य वाले मनुष्य को भी पतित बना देता है। मनुष्य की उत्तम बुद्धि कभी दूषित नहीं होती, मध्यम बुद्धि यद्यपि दूषित हो जाती है तथापि बाहर निंदा रूप से प्रकट नहीं होती। अधम बुद्धि पास में रह कर निंदा करती है किन्तु अधम से अधम बुद्धि रात दिन निंदा का रटन ही लगा देती है। दूसरे विद्यमान या अविद्यमान देखे हुए और सुने हुए किसी गुण को प्रदान नहीं करते किंतु इसके विपरीत निंदा करने वाले के शत्रुता बढाते हैं और सुनने वाले को दुर्बुद्धि प्रदान करते हैं। अतः परनिंदा नहीं करना चाहिये। परनिंदा बडा भारी पाप है उससे सदा बचना चाहिये। पाप न करने पर भी यह मनुष्य को दूसरे के पापों से लिप्त कर देता है। इसकी पुष्टि में जरती का दृष्टान्त देते हैं।

और उनका सर्वत्र आदर होता है तथा लोगों के सहयोग से उन के सभी धार्मिक सामाजिक और नैतिक कार्यों का सम्पादन सुख पूर्वक होता है। परन्तु जो प्राणी देशाचार का उल्लंघन करने लग जाता है उस बड़ी भारी हानि पहुँचती है। उसके देशवासी उसके विरुद्ध हो जाते हैं और संसार में उसे असहाय रह कर ही अपना कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ता है। शास्त्र में भी कहा है -

व्यलीक मस्तु वा मास्तु, लोकोक्तिस्तु सुदुस्सहा।
भज्यता भाजनं मा वा टणत्कारस्तु मारयेत् ॥१॥

अर्थात् चाहे अपराध हो या न हो किन्तु लोकापवाद बड़ा ही असह्य होता है। बरतन फूटो या न फूटो किन्तु आवाज मार ही देता है अतः प्रत्येक गृहस्थी को चाहिये कि यदि संसार में अपना जीवन सुखमय व्यतीत करना है तो वह योग्यतानुसार लोगों के सहयोग को प्राप्त कर शिष्ट मनुष्यों से सम्मत देशाचार का सम्यक्तया पालन करे। क्योंकि इसीसे उसके कार्य की सुख पूर्वक सिद्धि होगी और संसार में उसकी कीर्ति कौमुदी का प्रसार होगा।

अथ षष्ठो गुण प्रारभ्यते

जो गृहस्थ उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन प्रकार के भेद वाले प्राणियों की निन्दा करता है वह निन्दक कहलाता है। निंदक मरकर नरक में जाता है क्योंकि निंदा करने में बहुत दोष है। दूसरों का तिरस्कार करने से, दूसरों की हर प्रकार की निन्दा



खूब धारकर छाछ पिलाई। रात्रि में दैवयोग से उस अतिथि की मृत्यु हो। गई क्योंकि उस छाछ में चील के पंजा में उल्टे मुँह लटकते हुए साँप के मुँह से जहर टपक गया था।

सुबह उस अतिथि को मरा हुआ देख कर वह बुढ़िया मारे आनंद के उछलने लगी और कहने लगी,–"देखा! देखा!" इस दानी सज्जन का चरित्र देखा!!! धन के लोभ से लोगों को इस प्रकार जहर दे देता है। कभी भूल कर भी इसका भरोसा न करना। यह दान की कृत्रिम गुदड़ी में छिपा हुआ भयानक हत्यारा है।

इधर उस अतिथि की हत्या इधर उधर घूमने लगी और विचार करने लगी कि मैं किसे लगू। दाता शुद्ध मन वाला है। ब्राह्मण अनजान है। सर्प अज्ञ और परवश था। चील का सर्प स्वाभाविक भोजन है अतः मैं किसे पकड़ूँ। इस प्रकार विचार करती हुई उस हत्या ने उसी निंदक बुढ़िया पर आक्रमण किया और वह शीघ्र ही काली कुबड़ी और कोढ़नी होगई। इसलिये मनुष्य मात्र को चाहिए कि वह किसी की निंदा न करे।

जब कि साधारण मनुष्य की निंदा करने से भी अमंगल होता है तो राजा मंत्री, देव, गुरु, और आदरणीय पुरुषों की निंदा करने से प्राण हानि होना साधारण सी बात है। शास्त्रों में भी कहा है—

नो पैव भासियव्व हियमत्थिणा दुक्खकारणं वयणं।
अलिय अभक्खाण पे सुन्न मम्म वेहाई ॥१॥



किसी सुन्दर गाँव में, दाता लोकप्रिय सुदर नामका एक सेठ रहता था। उसका दिल जितना उदार और दानी था उतना वह धनवान नहीं था। गाव के लोग भी उसे बहुत चाहते थे। कारण बरसते हुए बादल से ही कुछ प्राप्ति की आशा रख सकते हैं वृथा गरजते हुए समुद्र से नहीं।

उसके जरती नाम की पडौसिन थी। वह रात दिन उसकी निंदा करने म ही मशगूल रहा करती थी। लोगा के सामने वह **सदैव बडबडाया करती थी कि** विदेशी लोग इसके घर पर आते हैं। इसे धमात्मा समझकर अपना द्रव्य व्याज पर देते हैं वे विदेश मे जाकर मर जाते हैं। उनका धन इसके पास रह जाता है। यह खूब आनन्द और उत्सव म मग्न रहता है। देखलिया इस धमात्मा को। यह धर्मी नहीं पापी है। यह दानी नहीं ठग है। यह सज्जन नहा दुर्जन है यह विश्वसनीय नहीं विश्वासघाती है, सदाचारी नहीं किंतु पाखण्डी है, अत इसका भरोसा न करो और न इसके चगुल म फँसो। मेरे कहने पर विश्वास रखो। ऐसा कोइ भी दिन खाली नहीं जाता था जिस दिन वह उसकी निंदा नहीं करती।

एक दिन रात होने पर एक भूखा कार्पटिक उस सेठ के घर पर आया। उस समय उसके घर में कुछ भी खाद्य और पेय सामग्री न होने के कारण उसका दिल बडा दु खी हुआ। वह दानी और अतिथियों की खुलेदिल से सेवा करने वाला था। इसलिये उसने उसको भूखा सुलाना उचित न समझा। वह उसी समय अपनी पडौसिन ग्वालिन के घर जाकर छाछ ले आया और उसने उसे



निवास करती थी उनके वेगवती नाम की एक कन्या थी। एक समय वहाँ पर विहार करता हुआ कोई शुद्ध व्रती साधु आकर बाहर के उद्यान में ठहरा। लोग भक्ति भाव में ओतप्रोत होकर उसके वन्दनार्थ वहां जाने लगे। साधु की पूजा और सत्कार को देखकर मिथ्या मात्सर्य के वश हो लोगो से कहने लगी कि यह साधु पाखण्डी है। ब्राह्मणों को छोड़ कर इसे क्या पूजते हो? इसको तो मैंने स्त्री के साथ सम्भोग करते देखा है। इस बात को सुनकर उसके वचनों पर विश्वास करके लोग उसकी पूजा से निवृत्त होगये।

यह देखकर साधु इस स्थान का ताड़ गया कि मेरी किसी ने झूठा निंदा करके मुझे कलंकित किया है। इस लिये मेरे कारण संसार में जैन शासन की अपकीर्ति न हो ऐसा विचार करके उसने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक यह मेरा कलंक दूर न होगा तब तक मैं भोजन न करूंगा। ऐसी प्रतिज्ञा कर वह काउसग्ग ध्यान में लीन होगया। उसके ध्यान की दृढ़ता से प्रसन्न हो शासन देव प्रत्यक्ष हुए और उन्हों ने वेगवती के शरीर में तीव्र वेदना उत्पन्न करदी। उस वेदना से व्यथित होकर वह एक दम घबरा गई और मन ही मन पछताती हुई साधु की शरण में पहुँची तथा सब के सामने अपने द्वारा की हुई मिथ्यानिंदा के पापों की उसके चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगी। तब शासन देव ने पुनः उसे स्वस्थ कर दिया। अन्त में धर्मोपदेश के प्रभाव से प्रभावित होकर उसने दीक्षा ग्रहण करली और उसका चिरकाल तक अखण्ड पालन कर अन्त में मर कर सौधर्म देवलोक में देवी हुई। बाद में वहाँ से चवकर जनक नन्दिनी सीता हुइ और उस साधु को पूर्व भव में



सन्ता विहुवत्तव्वो परस्स दोसो न होइ विवुहाण
कि पुण अविज्जमाणो पयडो छन्नो य लोयस्स॥ ॥
वि अरइ अवभ कन्नाण इयरस्सवि जो जणस्स दुन्नुद्धी
सो गरहिज्जई लोए लहई अ दुक्खाई तिक्खाई ॥२॥
जो पुण जइण समियाण सुद्धभावाण बभयारीण॥
अब्भक्खाण देइ मच्छर दोसेन दुट्ठमई ॥ ४ ॥

मनुष्य का चाहिये कि वह अपन हृदय म मिथ्यानिंदा स युक्त विशुनता स भरा हुआ, मर्मस्थान का घाव पहुँचान वाला और पराय क दिल म दु ख उत्पन्न करन वाला वचन कभा भा न निकाल। बुद्धिमान् मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह किसा म विद्यमान दोष का भा लागा क समक्ष अपनी जिह्वा से प्रकट न कर। अविद्यमान दाष का ता प्रकट करना उसक लिये नितान्त अनुपयुक्त है। जा दुष्ट बुद्धि मनुष्य की वृथा निंदा करता है और सभ्य समाज क सामन अकारण हा उसे निंदित ठहराता है वह इस असार ससार म भाति भाति के भयकर दु ख पाता और जा शुद्धात्मा, सम्यक् दृष्टि वाल उदार पुरुषा की इर्ष्या और द्वेष क वशाभूत हाकर निंदा करता है वह अनन्त दु खा का भाग कर अन्त म तीव्र नरक में जाता है। इस बात को अब बेगवता क उदाहरण द्वारा पुष्ट करत हैं।

इसी भरतखण्ड में विशाल कुण्डपुर नामक नगर था। उसम श्रीभूति नाम का पुरोहित और उसकी स्त्री सरस्वती



निवास करती थी उनके वेगवती नाम की एक कन्या थी। एक समय वहाँ पर विहार करता हुआ कोई शुद्ध व्रती साधु आकर बाहर के उद्यान में ठहरा। लोग भक्ति भाव में ओतप्रोत होकर उसके वन्दनार्थ वहाँ जाने लगे। साधु की पूजा और सत्कार को देखकर मिथ्या मात्सर्य के वश हो लोगों से कहने लगी कि यह साधु पाखण्डी है। ब्राह्मणों को छोड़ कर इसे क्यों पूजते हो? इसको तो मैंने स्त्री के साथ सम्भोग करते देखा है। इस बात को सुनकर उसके वचनों पर विश्वास करके लोग उसकी पूजा से निवृत्त होगये।

यह देखकर साधु इस बात को ताड़ गया कि मेरा किसी ने झूठा निंदा करके मुझे कलंकित किया है। इस लिये मेरे कारण संसार में जैन शासन का अपकीर्ति न हो ऐसा विचार करके उसने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक यह मेरा कलंक दूर न होगा तब तक मैं भोजन न करूंगा। ऐसी प्रतिज्ञा कर वह 'काउसग्ग' ध्यान में लीन होगया। उसके ध्यान की दृढ़ता से प्रसन्न हो शासन देव प्रत्यक्ष हुए और उन्हों ने वेगवती के शरीर में तीव्र वेदना उत्पन्न करदी। उस वेदना से व्यथित होकर वह एक दम घबरा गई और मन ही मन पछताती हुई साधु की शरण में पहुँची तथा सब के सामने अपने द्वारा की हुई मिथ्यानिंदा के पापों की उसके चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगी। तब शासन देव ने पुनः उसे स्वस्थ कर दिया। अन्त में धर्मोपदेश के प्रभाव से प्रभावित होकर उसने दीक्षा ग्रहण करली और उसका चिरकाल तक अखण्ड पालन कर अन्त में मर कर सौधर्म देवलोक में देवी हुई। बाद में वहाँ से चवकर जनक नन्दिनी सीता हुई और उस साधु को पूर्व भव में



कलंकित करने के कारण उसे इस लोक में कलंकित होना पड़ा। साधु भी निष्कलंक सिद्ध होकर पुन लोगोंद्वारा सत्कृत होने लगा इस कार्य स जगत में जैन शासन की अच्छी प्रभावना हुई।

शास्त्रों में यहा तक लिखा है कि केवल निंदक ही उभय लोक में दुःखी नहीं होता, बल्कि जो पराई निंदा सुनता है उसे भी पाप का भागी होना पड़ता है। जैसे—कुमार सभव में—

निवार्यतामालि ! किमप्ययं वटुः
पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवल यो महतो विभाषते,
शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्॥' ॥

'पार्वती अपनी सखी से कहती है कि हे सखि ! फड़कते हुए ऊपर के होठ वाले और फिर कुछ कहने की इच्छा वाले इस ब्रह्मचारी को रोको। केवल महापुरुषों की निंदा करने वाला ही पापी नहीं होता किन्तु जो उनकी निंदा सुनता है वह भी पापी है।'

अब पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि जब पराई निंदा सुनना भी पाप है तो निंदा करना तो कितना बड़ा भारी पाप होगा ? अतः गृहस्थमात्र का यह कर्त्तव्य है कि वह परनिंदा करने और सुनने का अभ्यास छोड़ दे और लोगों का प्रशंसा पात्र बन कर श्रेष्ठ धर्म के अधिकारी होने के योग्य बने।

—



॥ अथ सप्तमो गुण प्रारभ्यते ॥

गृहस्थ को ऐसे मकान में निवास करना चाहिए जो न तो अत्यन्त खुले मैदान में बना हुआ हो और न अत्यन्त छिपे हुए स्थान तथा उसमें निकलने और घुसने के अधिक दरवाजे भी न हो। केवल इतना ही नहीं वह शिल्प शास्त्र के अनुसार सुयोग्य स्थान पर बना हुआ हो और उसके आसपास रहने वाले पड़ौसी, सज्जन और सुयोग्य हों। इन सब बातों की आवश्यकता इसलिए प्रतीत होती है कि अगर मकान खुले मैदान में बना हुआ होगा और उसके किसी प्रकार की ओट न होगी तथा उसके आसपास यदि कोई मकान बना हुआ न होगा तो चोर, डाकू लुटेरे आदि उसे सहज में ही लूट लेंगे। मौका पाकर उसमें आग भी लगा देंगे और आसपास कोई सहायक न होने से उसकी रक्षा कोई न कर सकेगा। अत अत्यन्त व्यक्त स्थान में निर्माण किये हुए मकान में निवास नहीं करना चाहिये।

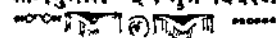
जो मकान अत्यन्त गुप्त स्थान पर चारो ओर से घिरा हुआ होगा वह न तो शोभनीय होगा और न शुद्ध वायु, रोशनी तथा धूप का ही उसमें सम्यक्तया समावेश हो सकेगा। इससे उसमे रहने वालो के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पडेगा। अग्निदाह आदि उपद्रवो के होने पर ऐसे मकानो में निर्गम और प्रवेश बड़े ही दुर्गमय हो जाते हैं। अत ऐसे मकान मे रहना मनुष्य के लिये अतीव हानिकारक है।



जिस मकान म निकलने और प्रवेश करने के लिए अनेक द्वार हों वह भी सद्गृहस्थ के निवास करने के योग्य नहीं है । क्योंकि निकलने और प्रवेश करने के अनेक मार्ग होने के कारण चोर, व्यभिचारी और लुटेरे आदि उसमें आसानी से प्रवेश करके धन दौलत और स्त्री बच्चो को उड़ाकर ले जा सकते हैं। कारण कि घर के एक दो दरवाजे हो तो सुरक्षित रह सकते हैं । किन्तु अधिक द्वार किसी हालत में सुरक्षित नहीं रह सकते । उनकी रक्षा में असावधानी हो ही जाती है । जिसके कारण गृहस्थ को एक दो नहीं किंतु अनेक दुःख उठाने पड़ते हैं तथा उसे अपयश का भागी भी होना पड़ता है । अतः ऐसे मकान में रहना बड़ी भारी भूल है जो अवसर पाकर बड़ी असह्य आपत्ति उपस्थित कर सकती है । इस कारण ऐसे मकानों का निवास गृहस्थ को सर्वथा त्याग देना ही उचित है ।

इतना सब होते हुए भी वह मकान शिल्प शास्त्र के अनुसार बना हुआ होना चाहिये । उत्तम और समतल पृथ्वी पर बना हुआ हो । जो शीत ऋतु म गर्म और ग्रीष्म ऋतु में शीतल तथा वर्षा म सर्दी और गर्मी दोनो रहता हो । उत्तम पृथ्वी की पहिचान बतलाता हुआ शिल्प शास्त्र लिखता है कि—"त्रिपञ्च सप्त दिवसै रम्र ब्रीह्यादि रोहणात् । उत्तम मध्यम हीना विज्ञेया त्रि-विधा मही । हस्तमात्र खनिवाश्वे पूरिता तेन पांशुना । श्रेष्ठा समधिके पांशी हाने हीना समे समा ॥

अर्थात् जिस पृथ्वी पर बोया हुआ धान तीन दिन में अंकुरित हो जाता है वह उत्तम और जहाँ पाँच दिन म उगता है वह मध्यम




तथा जहाँ सात दिन में बीज उगे वह हीन पृथ्वी कहलाती है। पृथ्वी की दूसरी परीक्षा यह है कि पृथ्वी मे हाथ भर गड्ढा खोदकर उसमें से रेत निकाले और वापिस उसी खड्डे को उसी रेत से पूरित करें। अगर रेत अधिक हो तो उत्तम, बराबर हो तो मध्यम और कम हो तो अधम समझना चाहिये।

जिस मकान पर पहले और चौथे प्रहर को छोड कर दूसरे और तीसरे प्रहर म वृक्ष और ध्वजादि की छाया पडे तो उस मकान को अशुभ समझना चाहिए। गृहस्थ को चाहिए कि वह अरिहंत भगवान् की पीठ, शकर और सूर्य की दृष्टि तथा विष्णु के वाम पार्श्व और ब्रह्मा के दक्षिण पार्श्व को बचा कर अपने मकान का निर्माण करावे। यह सब निश्चय कर लेने के बाद भी सदाचारी,गुणी और सरल स्वभावी पडौसियों का सग भी विशेष महत्व रखता है। क्योंकि यदि पडौसी सुशील न होकर दुःशील होंगे तो उनके साथ भाषण करने से, उनकी बातें सुनने से और उनकी चेष्टाएँ आदि देखने से गुणी भी निर्गुणी हो जाता है। कहा भी है—

काजल की कोठरी में कैसा हू सयानो जाय,
एक रेख काजर की लागि है पै लागि है।

अर्थात् सज्जन मनुष्य कितना हो चतुर और गुणी क्यों न हो यदि वह असज्जनों के व्यवहार मे आजावेगा तो वह वैसा ही बने बिना न रह सकेगा। एक मारवाडी कवि ने क्या ही अच्छा कहा है—

हियो जावे फूट कुसगी मिलियों थकों।
जावे कसू बो छूट साजी रग मिलियों थकों ॥१॥

अथात् जब कुसगी पुरुष का सग हो जाता है तब सज्जन मनुष्य का हृदय भी काबू से बाहिर हो जाता है जिस प्रकार कसूबा रगसाजी के मेल से उतर जाता है।

सज्जन पडोसी के साथ आदान प्रदान और परस्पर बात चीत करने तथा व्यवहारों के देखने से एव उनके अनुसार कार्य करने से दयादि पुण्यकी प्राप्तिहोती है। दानादि देनेसे तथा अच्छे प ोसियों के मध्य म रहन से सगमक की जिस प्रकार थूलिभद्र आदि के ज म की प्राप्ति हुई। उसी प्रकार ऐसी जगह निवास करने वाला जरूर शुभ कर्मों के प्रताप से पुण्यशाली जन्म को प्राप्त करता है।

अब यह शका उत्प न होती है कि बुरे पडोसी कौन कौन हैं और किन किन के पास नहीं रहना चाहिए ? इस शका को सहज ही में दूर करता हुआ शास्त्र लिखता है कि—

दुःख देवकुलासन्ने, गृहेहानि चतुष्पथे।
धूर्तामात्य गृहाभ्यासे, स्थान सुतधनक्षयौ ॥१॥
मूर्खा धार्मिक पाखण्डि पतितस्तेन रोगिणाम्।
क्रोधनान्त्यजदृप्ताना, गुरुतल्पगवैरिणाम् ॥२॥
स्वामिवचक लुब्धानामृषिस्त्री बालघातिनाम्।
इच्छन्नात्महित धीमान् प्रातिवेश्मिकतां त्यजेत् ॥३॥

अथात् देवालय के समीप निवास करने से दु ख की उत्पत्ति



और चौराहे पर घर होने से घर मे हानि होती है। धूर्त और मद्य के पड़ौस मे रहने से पुत्र और धन का नाश होता है। मूर्ख अधार्मिक, पाखण्डी, पतित, चोर रोगी क्रोधी शूद्र, घमण्डी गुरुपत्निगामी, स्वामी को ठगने वाला लोभी हिंसक, ऋषि स्त्री और बाल हत्यारा आदि पुरुषों के पड़ौस में अपना कल्याण चाहने वाले पुरुष को निवास नहीं करना चाहिये।

खराब पड़ौसी होने के कारण मनुष्य को क्या क्या दुःख उठाने पड़ते हैं इस बात की पुष्टि में अम्बा का उदाहरण देते हैं।

रैवतक गिरि के पास में कुबेरपुर नामक नगर था। वहाँ पर देव भट्ट का पुत्र सोमभट्ट निवास करता था। उसके अम्बिका नाम की स्त्री थी जो बड़ी ही सुन्दर और उदार थी। उन दोनों के सिद्ध और बुद्ध नाम के दो पुत्र थे। एक दिन श्राद्ध के दिन उस ने मासक्षपण के व्रती साधु को बड़ी ही भक्ति और श्रद्धा के साथ गोचरी प्रदान की। यह देख कर उसकी किसी एक पड़ौसिन ने कृत्या राक्षसी की तरह अपना भयंकर रूप बना कर ऊँचे हाथ किये और जोर से चिल्लाती हुई अपने घर से बाहिर निकली और अनर्गल बकने लगी। इसी बीच मे किसी घर से उस अम्बिका की सास निकली। उसने पड़ौसिन के मुख से अपनी बहू की शिकायत सुन कर अपने पुत्र सोमभट्ट को इस बात से सूचित किया। सोमभट्ट बोला रे दुष्टे! तूने यह क्या किया? अब तक कुल देवता भी न पूजे गये। पितरों को पिण्ड भी प्रदान नहीं किये, अब तक ब्राह्मणों का भी भोजन भी नहीं कराया और तूने इन कार्यों के पहिले ही इस जैन साधु को गोचरी कैसे प्रदान करदी। मूर्खे



तूने तो मेरे सब किये कराये पर पानी फेर दिया दुष्टे ! निकल यहा से । तुझ जैसा स्वैरिणी स्त्रियों के लिये मेरे घर मे स्थान नहीं है । बेशर्म ! निकल जल्दी निकल, जरा भी विलम्ब न कर आज से मैं तेरा मुँह देखना भी पाप समझता हूँ ।

इस प्रकार पति से घर बाहर निकली हुई वह अम्बिका अपने पुत्रों को साथ लेकर घर स निकल पडी । कहीं पर आश्रय न मिलने क कारण वह किसी दूसरे नगर की ओर रवाना हुई मार्ग में गर्मी की अधिकता के कारण थके हुए पुत्रों ने उससे पानी मागा । उसके शील के प्रताप स सामने का सूखा तालाब भी जल से परिपूर्ण होगया । आम खा कर उन्होंने भूख बुझाई और अमृत समान स्वादिष्ट जल पीकर अपनी तृषा शान्त की तदन्तर वह अपने पुत्रों के साथ उस आम्रवृक्ष का छाया में वि ाम करन लगी । इधर सास घर म गई । वहा पर क्या देखती है कि जिस आसन पर मुनि बैठा था, जिन पात्रों से मुनि को गोचरी प्रदान का गइ थी उस आसन और पात्रों को सोने के और रत्न ज ाऊ देख कर प्रसन्न हुई । उसने यह सब बात अपने पुत्र से कहा । सोमभट्ट भी अपनी स्त्री को गुणवती और पतिव्रता समझ कर पुन उसे बुलाने के लिये उसके पाछे गया मार्ग में पश्चाताप करता हुआ वह वहाँ पहुँचा जहाँ पर उसकी स्त्री आम की छाया में विश्राम ले रही था अम्बिका दूर से ही अपने पति को आता हुआ देखकर डर क मारे बच्चों सहित पास ही जलाशय में कूद पड़ा और शुभ ध्या न से नश्वर शरीर क छोड़कर कोहण्ड नामक विमान म अम्बिका नाम की देवी हुई । सोमभट्ट भी लोका-



प्रासाद से टूट कर उसी जलाशय में कूद पड़ा और वह भी आभियोगिक कर्म से उसी विमान में सिंहरूप धारण करने वाला देव होकर उसका वाहन बना।

इससे यह सिद्ध होता है कि बुरे पडोसियों के बीच में रहने से मनुष्य को बडे बडे दुःख उठाने पडते हैं। अतः सद्‌गृहस्थ को चाहिये कि वह अपने और दूसरे के सुख के लिये अच्छे पडोसियों के बीच में निवास करे।

अथाष्टमो गुणः प्रारभ्यते ॥

अब अष्टम गुण में यह बतलाया जाता है कि सदाचारी मनुष्यों का सग करने वाला गृहस्थ सदैव सुख भोगता है और ससार में उसका सर्वत्र आदर होता है। सत्संग में ऐसी सामर्थ्य है कि वह अज्ञानी मनुष्य को भी ज्ञानी बना देता है और कुसग ज्ञानी को अज्ञानी, पुण्यात्मा को पापी, और दयालु को निर्दयी बना देता है। कहा भी है कि—

दुर्वृत्तसगतिरनर्थपरम्पराया',
हेतु सता भवति किं वचनीयमत्र।
लकेश्वरो हरति दाशरथे कलत्रम्,
प्राप्नोति बन्धनमसौ किल सिन्धुराज ॥१॥

अथात् दुराचारी मनुष्य का सग सज्जनों के लिये भी अनर्थ परम्परा का कारण होता है जैसे देखो रामचन्द्रजी की स्त्री सीता जी को हरण करके रावण लगया किन्तु उसकी सगति करने समुद्र ... ... हुआ। इसलिये गृहस्थ को ...

दुष्टों की संगत न कर सदाचारी पुरुषों की संगत करे। कारण कि शिष्ट जनों के संग से दुष्ट मनुष्य भी सज्जन हो जाते हैं। कुलीन और गुणवान पुरुष भी संगति विशेष के फल से पूजे जाते हैं। तुम्बाफल से रहित वीणा दण्ड कभी महिमा को प्राप्त नहीं हो सकता। सत्संग से दुष्टों को भी सज्जनता प्राप्त हो जाती है किन्तु दुष्टों की संगत से साधुओं को दुष्टता प्राप्त नहीं होती। जैसे पुष्पों से उत्पन्न सुगन्ध को मिट्टी धारण करलेती है किन्तु मिट्टी की गंध को पुष्प धारण नहीं करते। सज्जनों की संगत बुद्धि की जड़ता को दूर करती है चित्त को प्रसन्न रखती है और दिशाओं में चारों ओर कीर्ति फैलती है। और फिर क्या करती है?

दूरी करोति कुमतिं विमली करोति,
चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकी करोति।
भूतेषु किं च करुणां बहुली करोति,
संगः सतां किमु न मङ्गलमातनोति॥१॥

अर्थात् सत्संग कुबुद्धि को दूर करता है चित्त को निर्मल और शुद्ध बनाता है, चिरकाल के संचित पापों को नष्ट करता है, प्राणियों के हृदय में दया की वृद्धि करता है और सब तरह के मंगलों द्वारा मनुष्य को अभ्युदय की ओर ले जाता है। संगति का प्रभाव प्राणी पर किस प्रकार पड़ता है उसे एक तोते के उदाहरण द्वारा समझाते हैं।

किसी जंगल में आम के वृक्ष पर एक तोते का जोड़ा रहता था। वे अपना समय बड़े ही आनन्द से व्यतीत करते थे कुछ काल के उपरान्त उनके दो बच्चे हुए। एक समय वे दोनों बाहर



दान के लिये गये हुए थे पीछे से एक शिकारी आया और उसने उस पेड़ पर चढ़कर उस घौंसले मे हाथ डाला। एक शुक शावक ता उसके हाथ लगगया और दूसरा दैववश घौंसले स नीचे गिर पड़ा और पृथ्वा पर पड़े हुए सूखे पत्तों का ओट मे छिपगया। शिकारी दूसरे बच्चे को कुछ देर इधर उधर ढूढकर वहा स चल पड़ा। घर पहुँचकर उसने अपनी प्यारी स्त्री के कथनानुसार उस बच्चे को न मारकर उसे एक पिंजड़े में बन्द करदिया।

, इधर एक ऋषि कुमार उस दूसरे बच्चे को अपने पवित्र एव शान्त तपोवन म लेगया और उसका बडी ही सावधानी के साथ पालन पोषण करने लगा।

कुछ समय के बाद उधर से एक राजा शिकार खेलता हुआ आ निकला। उसने उस भील द्वारा पोषित तोते का बोला सुना जाकि बहुत ही कर्णकटु थी। जब वह शातलजल और सघन छाया को ढूढता हुआ उस आश्रम म आया ता उसने उस आश्रम वासी तोते का भी मधुर वाणी सुनी। इन दाना की वाणी में परस्पर भेद देख कर वह विचार करने लगा।

उमे विचार मग्न देख तोते ने कहा —

गवाशनाना "स गिर' शृणोति,
अह तु राजन्! मुनि पुङ्गवानाम्।
प्रत्यक्षमेतद्भवता ऽपि दृष्टम्,
संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति ॥१॥

हे राजन्! वह तोता (मेरा भाई) गामामभोजा भीला की दिनरात कर्कश वाणी सुनकर उसका अभ्यासी होगया है और

में शान्त मुनियों की मधुर और सत्कार पूर्ण वाणी सुनकर उसका आदी होगया हूँ। यह तो अब आपको स्पष्टतया ज्ञान होगा कि गुण और दोष संसर्ग से ही उत्पन्न होते हैं। इसकी पुष्टि में प्रभाकर का दृष्टान्त दिया जाता है।

प्रभाकर का दृष्टांत

वीरपुर नामक नगर में षट्कर्म का करने वाला दिवाकर नाम का एक वेद पाठी ब्राह्मण रहता था। उसके प्रभाकर नाम का इकलौता पुत्र था। वह रसायन फूंकता, जूआ खेलता, कलह करता और सब जगह निरंकुश हाथी की तरह घूमता था। पिता उसे नित्य शिक्षा दिया करता था। पुत्र! व्यसनता को छोड़ क्योंकि बैर, वैश्वानर (अग्नि) व्याधि, वाद और व्यसन ये बड़े भारी अनर्थ के मूल हैं। इसलिये —

अवगाहस्व शास्त्राणि पिबकाव्यरसामृतम्।
शिक्षयस्वकला धर्मं कुरूद्धर निज कुलम्॥

शास्त्रों को पढ़ो, काव्यों के रसरूपी अमृत का पान करो कलाएँ सीखो धर्म म श्रद्धा रखो और अपने कुल का उद्धार करो इस प्रकार पिता के शिक्षा देने पर भी वह अपने बुरे आचरणों से बाज नहीं आया और इसके विपरीत, समय समय पर पिता को यह उत्तर देने लगा—

बुभुक्षितै र्व्याकरण न भुज्यते,
पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।



न छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं,
हिरण्यमेवार्जय निष्फला कला ॥

भूखे मनुष्यों के पेट की ज्वाला को व्याकरण शान्त नहीं कर सकता, काव्य रस प्यासे पुरुष की प्यास बुझाने में समर्थ नहीं होसकता। छन्द शास्त्र पढ़ने से आज तक न तो किसी के कुल का उद्धार हुआ देखा है और न कानों से सुना है। अतः सोना कमाना ही सर्वश्रेष्ठ है बाकी की सभी कलायें निष्फल हैं। इस प्रकार उद्दण्डता से भरी हुई बातें सुनकर पिता ने उसे शिक्षा देना छोड़दिया।

थोड़े वर्षों के पश्चात् मृत्यु शय्या पर पड़े हुए पिता ने धार्मिक कार्यों में व्यय करने के लिये उससे कुछ द्रव्य मांगा। यह सुन कर उसने कहा " आज पर्यंत जूआ खेलने का, चोरी करने का और इसी कुमार्ग से कमाये हुए धन में से मेरे सगियों को दावतें आदि देने का फल आपको हो"। यह सुनकर दुःखी हुए पिता ने कहा, " दुष्ट ! यह फल तुम्हें ही प्राप्त हो "। मुझे ऐसा धन नहीं चाहिये। एक दिन पिता ने विवश होकर उसे फिर कहा,— " पुत्र ! यद्यपि मेरे वचनों में तेरी अनास्था है तोभी तू इस श्लोक को तो अवश्य ग्रहण कर जिससे कि मेरी मृत्यु सुख पूर्वक होवे।

कृतज्ञस्वामिसंसर्गं मुत्तमस्त्रीपरिग्रहात्।
कुर्वन् मित्रमलोभञ्च नरो नैवावसीदति ॥१॥

अर्थात् कृतज्ञ स्वामी का संसर्ग, उत्तम स्त्री के साथ विवाह और निर्लोभी मित्र करने वाला पुरुष कभी दुःखी नहीं होता।



पिता के आग्रह से प्रभाकर ने इस श्लोक को ग्रहण करलिया यह देखकर पिताने अपने प्राण सुख से त्याग दिये।

प्रभाकर भी श्लोक की परीक्षा करने की इच्छा से विदेश को रवाना हुआ। मार्ग में आने वाले किसी गाव में उसने कृतघ्न और क्षुद्राशयी सिंहवर्मा नामक ग्रामाधीश के यहा नौकरी करली। उसी की नीच दासी के साथ उसने विवाह भी करलिया। और वहां के प्रसिद्ध लोभी लोभनन्दी नाम के बनिये को अपना मित्र बनाया। एक समय राजा द्वारा आमंत्रित होने पर सिंह प्रभाकर को भी अपने साथ लेगया। प्रभाकर ने राजा को गुण-ग्राही समझ कर यह श्लोक पढ़ा—

मृगामृगैः संगमनुव्रजन्ति, गावश्च गोभिस्तुरगा स्तुरगैः
मूर्खाश्चमूर्खैः सुधियो सुधीभिः,
समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ॥

हे राजन्! हरिण हरिणों के साथ, गायें गायों के साथ और घोडे घोड़ों के साथ जाते हैं तथा मूर्ख मूर्खों का और विद्वान विद्वानों का संग करते हैं क्योंकि मित्रता समानशील और समान व्यसन वालों में ही हुआ करती है।

प्रभाकर के इन वचनों से संतुष्ट होकर राजा उसे बडीभारी जागीर देने लगा। किन्तु प्रभाकर ने वह जागीर सिंहवर्मा को दिलवादी। इस प्रकार उसने सिंहवर्मा के साथ बहुत उपकार किये। दासी को भी खूब सोने और रत्न जडाऊ आभूषण दिये लोभनन्दी को भी अत्यन्त धनवान बनादिया।



सिंहवमा ने एक मयूर पाल रखा था। जो उसे अपने जीवन से भी प्यारा था। गर्भ के प्रभाव से प्रभाकर की स्त्री के मन में उसी मयूर का मास खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। प्रभाकर ने भी अपने पिता के श्लोक की परीक्षा के लिये राजा के मयूर को कहीं छिपाकर किसी अन्य मयूर के मास से उसके दोहद को पूर्ण किया।

इधर भोजन के समय सिंह वर्मा ने मयूर को चारों ओर ढूंढा पर वह न मिला। ढिंढोरा पिटवाया गया— "जो मयूर को बतला देगा। उस राज्य की ओर से आठसौ सुवर्ण मुहरें मिलेगा।" धन की लोभी दासी ने अपने मन में यह विचार किया कि मुझे तो दूसरा पति भी मिलजायगा। यह सोचकर उसने राजा से सारा वृतात कहदिया। यह सुनकर सिंहवर्मा ने प्रभाकर को गिरफ्तार करने के लिये सिपाही भेजे। प्रभाकर भी इस बात को जानकर, मित्र! मेरी रक्षा करो, मित्र मेरी रक्षा करो इस प्रकार चिल्लाता हुआ अपने प्रिय सुहृद लोभानन्दी वणिक के घर गया। लोभनन्दी ने पूछा तुमने राजा का क्या मारा है।? प्रभाकर ने उत्तर दिया कि मैंने अपनी स्त्री के दोहद की पूर्ति के लिये राजा के मयूर का प्राणापहरण किया है। तब नाच मित्र ने कहा,—स्वामी के साथ द्रोह करने वाले तुम्हारे लिये मेरे यहा स्थान नहीं है। इस प्रकार कहते हुए मित्र के घर में बलात् उसने पठ पूर्वक प्रवेश किया त्योंही लाभनन्दी जोर से चिल्लाया। उसका आवाज सुनकर सिपाही लोग वहा पहुँचे और वहाँ से प्रभाकर को पकड़कर राजा के पास लेगये।

प्रभाकर को देखते ही सिंहवर्मा की भौंहें तन गईं क्रोध के मारे मुँह लाल होगया और उसके होठ फड़कने लगे। उसने क्रोध से कांपती हुई आवाज से कहा,— रे अधम ब्राह्मण! या तो तू मुझ मेरा मयूर अर्पण कर या अपने इष्ट देव का स्मरण कर मृत्यु का स्वागत करने को तैयार होजा" इस प्रकार राजा से धमकाया हुआ वह भयभीत होकर बोला, "राजन! तुम्हीं मेरे स्वामी हो, पिता, रक्षक जो कुछ भी समझो वह तुम्हीं हो। अत मुझ सेवक के एक इस अपराध को क्षमा करो।"

इस प्रकार गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करने पर भी उसने प्रभाकर को जल्लादों के हाथ सौंपदिया। जब तक वे उसे न मारें तब तक उसने राजा के मयूर को राजा के अर्पण करदिया और उसने सारा सच्चा स्वरूप कह सुनाया कि राजन्! मैंने देवतुल्य अपने पिता के वचनों की परीक्षा की थी जिनका उल्लंघन करने से मुझे यह परिणाम भोगना पड़ा। यह कहकर वह सिंहमित्र से आज्ञा ले आगे चला। मार्ग में जाते हुए उसने अपने मन में यह विचार किया।

वरं विहर्तुं सह पन्नगैर्भवे,
च्छटास्मभिर्वा रिपुभिः सहापितुम्।
अधर्मयुक्तै श्चपलैरपण्डितै, र्न पापमिश्रैः
सह वर्तितुं क्षमम् ॥१॥
इहैव हन्यु र्भुजगा हि रोपिता'
धृता सयच्छिद्र मपेक्ष्य चारय.।



असत्प्रवृत्तेन जनेनसंगतः परत्र चैवेह च हन्यते जनः

साँपों के साथ खेलना अच्छा है। दुष्ट स्वभाव वाले शत्रुओं के साथ रहना अच्छा है किन्तु धर्महीन, अयोग्य, अव्यवस्थित चित्तवाले, मूर्ख और पापी मित्रों की संगति करना ठीक नहीं। सताने से क्रोधित हुए सांप मनुष्य की इसी लोक में जान लेते हैं वो छिद्र देखकर तलवार हाथ में लिये हुए शत्रु मनुष्य को इसी लोक में मारते हैं लेकिन दुराचारी मनुष्य की संगत मनुष्य को उभय लोक में दुःख देने वाली है अतः यह बहुत बुरी है।

इस प्रकार मन में विचार करते करते वह सुन्दरपुर नाम के नगर में आया। वहा पर हेमरथ नाम का राजा राज्य करता था उसके विद्वानों का आदर करने वाला, दयादाक्षिण्यादि गुणों से युक्त गुणसुन्दर नाम का राजकुमार था। वह नित्य प्रति नगर के बाहर शस्त्रास्त्र का अभ्यास करने के लिये जाया करता था। प्रभाकर ने उसे देखकर नमस्कार किया। राजकुमारों ने भी स्नेह भरी दृष्टि से उसकी ओर निहारकर उसका सत्कार किया। प्रभाकर ने भी कुमार के प्रेम और परस्पर की बातचीत के ढंग को देखकर सोचा "अहो! इसका स्वरूप बड़ा ही निर्मल और सौम्य है, वाणी मधुर और मितभाषिणी है, इसकी योग्यता, चतुराई और हृदय की स्वच्छता प्रशंसनीय है। वास्तव में किसी ने यह यथार्थ ही कहा है कि आकृति के अनुसार गुण होते हैं। ऐसा विचार कर उसने राजकुमार की सेवा करने का निश्चय करलिया।

इधर राजकुमार भी उसे बड़े ही आदर सत्कार के साथ अपने नगर ... र उसे निवास के लिये एक सुन्दर



फिक्र न करो। मैं अपने आप को इस अपराध के लिये राजा के हाथ सोंप दूगा।" इतना कहकर वसत मित्र राजा के घर गया और हाथ जोडकर उनसे प्रार्थना करने लगा।

राजन्! राजपुत्र की हत्या में मंत्री का कोई अपराध नहीं। इसमें सब कुछ अपराध मेरा हा है। इतने में मत्री की स्त्री भी आगई और उसने कहा यह सब मेरे ही दोहद की पूर्ति के लिये हुआ है। इधर थोड़ी दर बाद मंत्री भी वहा आ पहुँचा और उसने कापती हुइ आवाज़ में कहा, "राजन्! यह सब मेरा अपराध है अत आप मुझे ही प्राण दण्ड दें। यह मेरा मित्र वसत और मेरी स्त्री दोनो मेरे दु ख से दु खी होकर ही अपना अपराध स्वीकार कर रहे हैं। राजन्! तेरे पुत्र का खूनी तेरे लाल का हत्यारा, तेरे सामने खड़ा है। शीघ्र ही स बाल हत्यारे का मौत के घाट उतार, अपने चित्त का शान्त कर।"

इस दृश्य को देखकर राजा मंत्र मुग्ध सा होगया और मन में विचार करने लगा। यह मत्री सब प्रकार से मेरा हित चिन्तक और आवले देने से मेरा प्राणदाता है। ऐसा विचारकर उसने सब के सम्मुख मत्री से कहा,—

"मित्र! त्वं यदि नादस्य स्तदा धात्रीफलानि मे।
तदा काहं? क राज्य च? क सुत? क परिच्छदः।

अर्थात् हे मित्र! यदि तू मुझे उस कठिन समय में आवले के फल न देता तो आज के दिन कहा तो मैं होता कहा राज्य होता, पुत्र कलत्र और मित्र परिवारादि होते?"



यह सुनकर मंत्री बोला—'राजन्! इतने से ही तुम्हारी कृतज्ञता मुझे मालूम होगई। अब आप निस्संकोच अपने पुत्रघाती इस पापी को दण्ड प्रदान करें।" राजा ने कहा कि तीन आवलों में से अभी तो एक ही आवले का मूल्य पूरा हुआ है। यह सुन कर मंत्री ने कहा, "राजन् यदि ऐसा है तो तुम्हारे पास तीनों आवले कायम रहे और आप चिरकाल तक राजकुमार सहित राज्य करें।" इतना कह उसने राजपुत्र को राजा के हाथों सौंप दिया।

राजकुमार को देखते ही सबकी आखे आनन्द के आसुओं से परिपूर्ण होगई। सबके मन प्रफुल्लित हो उठे। मंत्री! तुमने ऐसा क्यों किया? इस प्रकार राजा के पूछने पर उसने अपने पिता की आज्ञा से लगाकर अब तक का अपना सारा वृतांत कह सुनाया। राजा भी सब हाल जान कर लज्जित हुआ और मंत्री को अपने आधे सिंहासन पर बिठाकर बोला—"मंत्री! जो मैंने अमूल्य आवले की तुलना अपने पुत्र से की इस बात को तुम मुझे क्षमा करना इत्यादि प्रेम भरे वचनों से उसे प्रोत्साहित किया मंत्री ने भी सुस्वामी को पाकर चिरकाल पर्यंत उसके साथ राज्य का पालन कर प्रजा को बहुत सुख पहुँचाया। अतः अपनी उन्नति चाहने वाले सभी सज्जनों को चाहिये कि वे भी प्रभाकर के सज्जन और दुर्जन के संग से उत्पन्न होने वाले फलों को देखकर, सुखादि प्राप्त करने के लिये सदैव सज्जनों का संग करें इसी में उनका भला है।



का भी तो चुकाना हमारी शक्ति से बाहिर है। हा यह कर सकते हैं कि हम उनकी सेवा करें। उन्हें हर तरह से सुश रक्खें जिससे वे इस ऋण को माफ करदें। हमें चाहिये कि जब हम छोटे हों तो जो कुछ नेक आज्ञा वे दें उसका पालन करें कभी उनकी आज्ञा से बाहिर न हो। जिस जगह वे जाने का कहें वहा जावें। जहा का निषेध करें वहा न जावें। जो काम करने का कहें उसे करें जिस जगह बैठने से हमें रोकें वहा न बैठें और हर तरह से हम उन्हें सुख पहुँचावें।

देखो! श्री महाराज रामचन्द्रजी ने, केवल अपने पिता की आज्ञा के पालनार्थ अयोध्या के राज्य सिंहासन को ठुकरा दिया था, वस्ती को छोड़कर जगल में जा बसे थे, राज्य सुख को त्याग दु ख उठाया था पर पिता की आज्ञा से उन्होंने मुँह नहीं मोड़ा। जिस समय वे जगल में जारहे थे तब सारी प्रजा शोक करने लगी। प्रजा को शोक मग्न देख उन्होंने क्या ही उपदेशमयी शान्त्वना उसे दी थी। देखिये—

अस्रष्ट यो पश्च भयेभ्यरक्षीद्,
य सर्वदास्मानपुपत् स्वपोषम्।
महोपकारस्य किमस्ति तस्य,
तुच्छेन यानेन वनस्य मोक्ष ॥१॥

अर्थात् जिस पिता ने हमें उत्पन्न किया है जिसने हमारी आगत और अनागत भयों से रक्षा की है, जिसने अपने धन से हमारा सम्यक्तया पालन पोषण किया है ऐसे उस पिता के बड़े

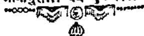


भारी उपकार का बदला क्या इस तुच्छ वन-गमन से चुकाया जा सकता है ? अर्थात् नहीं। यहां तक कि उन्होंने अपनी माता को भी यहां कहा था कि—

सुन जननी सोइ सुत बड भागी,
जो पितु मातु वचन अनुरागी।
तनय मातु पितु पोषन हारा, ।
दुर्लभ जननि सकल ससारा ॥

हे माता ! सुन जो पुत्र माता पिता के वचनो में प्रेम और आदर करने वाला होता है। वही पुत्र बड भागी कहलाता है। माता पिता का पोषण करने वाला पुत्र सब संसार मे दुर्लभ है। जिसके चरित्र को सुनकर माता पिता आनन्दित हों, जिसको माता पिता प्राणो के समान प्यारे हों उसी मनुष्य का इस पृथ्वी तल पर जन्म लेना सार्थक है—

हमें चाहिये कि जब हम बड़े हो जावें और कमा सकें तब हर तरह से माता पिता की सेवा करें। उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट न दें। अपने से अच्छा खिलावें अपने से अच्छा पहिनावें तथा हर तरह से उनकी आज्ञा का पालन करें क्योंकि इनकी सेवा करने मे ही हमारा कल्याण है। जब वे सुखी रहेंगे तब वे हमें आशीर्वाद देंगे और हम फल फूल जायगे सचमुच माता पिता के आशीर्वाद मे बड़ा बल होता है। जो लोग माता पिता को कष्ट देते हैं उनकी सेवा नहीं करते वे बड़े अधम और धूर्त हैं। उनके माता पिता कभी उन्हें आशीर्वाद न देंगे और वे कभी फूले फलेंगे नहीं।



हा ! वे मनुष्य कैसे धूर्त हैं जो अपने माता पिता को हर तरह से दु ख पहुँचाते हैं। भला जब वे जन्म देनेवाला का भी हित नहीं कर सकते तो फिर वे किसका हित कर सकेंगे ? इन निर्लज्जों को शर्म नहीं आती कि जिन्होंने उनके साथ इतना सलूक किया, जिन्होंने उनके लिय इतने कष्ट उठाये उनके साथ उनका यह घृणित व्यवहार। ऐसे नरराक्षसों से सदा घृणा करना चाहिये और कभी इनके पास न बैठना चाहिये। भगवान् राम तो ऐसे नरपिशाचों के लिय यही कहते हैं कि—

विद्युत्प्रणाश स वर प्रनष्टो,
यद्वोर्ध्वशोष तृणवच्छुष्क ।
अर्थे दुरापे किमुत प्रवासे,
न शासनेऽवास्थित यो गुरूणाम् ॥१॥

जो मनुष्य काम पडने पर कष्ट के समय म, अथवा परदेश मे गुरुजनो का आज्ञा पालन नहीं करता उसका बिजली के क्षणिक जीवन की तरह क्षण भर मे जन्मते ही मर जाना अच्छा है और अधिक क्या कहे उसका तृण के समान खड़े २ सूख जाना अच्छा है। जब ये अपने माता पिता की सेवा नहीं करेंगे तो इनकी सतान भी इनकी सेवा नहीं करेगी। वे भी इन्हें कौड़ी कौड़ी के लिये तरसावेंगे।

देखो ! शाहजहा बादशाह ने अपने बाप के साथ विरोध किया था उसी का यह परिणाम हुआ कि शाहजहा को उसके लडके औरंगजेब ने बुढ़ापे में कैद करदिया और उसकी अत्यन्त अवगति

हुई। जो सदैव माता पिता के हुक्म में नहीं रहते उनसे ईश्वर भी अप्रसन्न रहता है क्योंकि भगवान की यह आज्ञा है कि 'मातृ देवो भव' 'पितृ देवो भव' अर्थात् माता और पिता दोनों को ईश्वर तुल्य समझो। जब हम अपने माता पिता की भी सेवा नहीं कर सकते तब परम पिता परमात्मा की आज्ञा कैसे पाल सकेंगे। अगर हम अपना कल्याण चाहते हैं तो हमें चाहिए कि जहां तक हमसे अपने माता पिता का ऋण चुकावें और सदा उनके आज्ञाकारी रहें। नहीं तो कपूत कहलावेंगे।

शास्त्रों में तो माता पिता को समस्त तीर्थों से समस्त देवताओं से और समस्त ऋषि मुनियों से श्रेष्ठ बतलाया है और माता के लिये तो यहां तक कह दिया है कि—

उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्य्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृ माता, गौरवेणातिरिच्यते ॥१॥

उपाध्याय से दशगुना आचार्य, आचार्य से सौ गुना पिता और पिता से हजार गुना माता का गौरव है इसलिये माता का स्थान सबसे ऊंचा और विशेष महत्वशाली है। अतः प्रत्येक मनुष्य को अपने माता पिता की आज्ञाकारी तथा सेवक सन्तान बनना चाहिये।

अथ दशमोगुण प्रारभ्यते

दशम गुण में अब यह बतलाया जाता है कि जहां पर दुष्काल और महामारी का भयंकर प्रकोप हो, जहां की प्रजा और



राजा में परस्पर विरोध होने के कारण जिसका शासन प्रबन्ध अव्यवस्थित होगया है। जहा पर धर्म अर्थ और काम इस त्रिवर्ग में बाधा पहुँचती हो, गृहस्थ को चाहिये कि ऐसे ग्राम या नगर को तत्क्षण छोड़कर कहीं अन्यत्र जा बसे जिस प्रकार द्वारका वासी द्वारका को और वलभी निवासी वलभी को छोड़कर कहीं अन्यत्र उपद्रव रहित स्थान में जा बसे। ऐसा करने से उसे सुख और शान्ति प्राप्त होती है। अगर गृहस्थ ऐसे उपद्रव युक्त स्थान को त्याग न करे तो उसे उसके वहां रहने पर चोरी, परदारा, कुनृप ति आदि के सम्बन्ध से धर्म और अर्थ की हानि ही होगी। देव दर्शन और गुरु का आगमन तथा अपने साधर्मी भाइ का सम्बन्ध न होने से नूतन धर्म का अर्जन भी न हो सकगा। कहा भी है—

"नय वसई साहु जण विरहियमि देशे बहुगणेवि।"

अर्थात् जो देश साधुओ और सत्पुरुषों के निवास से शून्य है ऐसे बहुत से गुणों से युक्त देश मे भी निवास नहीं करना चाहिये।

अब दिल में यह शका होता है कि तब कैसे देश में निवास करना चाहिये ? इस शका का निवारण करता हुआ शास्त्र लिखता है कि ' जहा पर श्रेष्ठ धर्म का प्रचार हो, जिसके चारों ओर पर-कोटा बना हुआ हो जहां का राजा प्रजा प्रिय और न्यायी हो, जहा पर व्यापार जल और इन्धन की बहुतायत हो, जहा पर अच्छी २ जातियों का निवास हो, जहा सत्यवादी, पवित्र और गुणी पुरुषों का निवास हो, जहा के मनुष्य गुणी मनुष्यों की

इत करना जानते हो, ऐसे ही देश का निवास गृहस्थ को उभय लोक में सुखी बना सकता है अन्यथा नहीं। इसलिये गृहस्थ को चाहिये कि वह, जहा पर बालक राज्य करता हो अथवा स्त्री का राज्य हो, मूर्ख का राज्य हो अथवा दो राजाओं का राज्य हो, जो देश और युद्ध और रोग का केन्द्रीभूत हो, जहा न देवमंदिर हो और अच्छे २ साधुओं का सगम ही होता हो, ऐसे देश में न रहे इसी में उसका कल्याण है।

॥ अथैकादशमो गुण प्रारभ्यते ॥

अब ग्यारहवें गुण में इस बात का विवेचन किया जाता है। कि सुश्रावक को चाहे प्राणान्त कष्ट भी क्यों न उठाना पड़े पर वह निन्दित काय में कभी भी प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। यहीश्रेष्ठ पुरुषों का धर्म है। कहा भी है कि—

कर्त्तव्यमाचरन्काम, -मकर्त्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे, स वै आर्य इति स्मृत ॥१॥

जो मनुष्य कर्तव्य परायण, अकर्त्तव्य विमुख और शुद्ध आचार विचार वाला है वही श्रेष्ठ है।

अब यह प्रश्न उठता है कि वे निन्दित कर्म कौनसे हैं जिनके प्रवृत्त होने में मनुष्य अपने धर्म कर्म से पतित होकर उभय लोक में दुःख का भागी होता है ? इसका साधारणतया तो यही उत्तम है कि निन्दित कर्म देश, काल, जाति कुल और काल आदि की अपेक्षा से कइ प्रकार के हैं। देश की अपेक्षा से निन्द



कम जैसे—"सिन्धु सौविर देश में कृषीकर्म और लाट देश में 'मद्य विक्रय'। जाति की अपेक्षा से—ब्राह्मण का मदिरापान करना तथा तिल, नमक, लाख और लोह आदि का विक्रय। कुल की अपेक्षा से—चौलुक्य वंशिया का मद्यपान। काल की अपेक्षा से अग्नि होत्र, गो मेध सन्यास पितृश्राद्ध में मांस के पिण्डों का प्रदान और पति की मृत्यु के उपरान्त देवर द्वारा सन्तानोत्पत्तियाँ पाच कर्म कलियुग में वर्जित हैं और निंद्य समझे जाते हैं। निंद्य कर्म करने वाले मनुष्य द्वारा किये हुए शेष धर्म कर्म भी उसके उपहास के लिए ही होते हैं। क्योंकि शास्त्र में भी अयोग्य कार्य का प्रारम्भ प्रकृति के साथ विरोध बलवान के साथ स्पर्धा और स्त्रियों म विश्वास ये चार मृत्यु के द्वार बतलाये गये हैं। शास्त्र तो यहा तक कहता है कि—

अकर्तव्य न कर्तव्य, प्राणैः कठगतैरपि।
कर्तव्य मेव कर्तव्य प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ १ ॥

जो कार्य करने योग्य नहीं है अर्थात् निंद्य है उसे प्राणों के कण्ठ में आजाने पर भी नहीं करना चाहिये। जो कार्य करने योग्य और अनिंद्य है उसे प्राणहानि होने पर भी करना चाहिये। इसी बात को भली प्रकार पुष्ट करने क लिये आरोग्य द्विज का आख्यान लिखा जाता है।

प्राचीन काल में उज्जयिनी नाम की नगरी में एक ब्राह्मण रहता था जो अणुव्रत आदि श्रावकों के बारह गुणों का पूर्ण तया पालन करने वाला सदाचारी श्रावक था। बचपन से ही बहुत



रोगा होने के कारण लोकों ने उसका नाम 'रोग' रखदिया था। रोग का चिकित्सा कराने में सब प्रकार से समर्थ होने पर भी उस ब्राह्मण ने रोग की पीडा को सहन करने का ही अपने मन में दृढ संकल्प कर लिया और वह अपने जीव को सम्बोधित करके कहने लगा। —

> पुनरपि सहनीयो दुःखपाकस्त्वयाऽयं,
> न भवति खलु नाशः कर्मणां संचितानाम्।
> इति हि स गणयित्वा यद् यदायाति सम्यक्,
> सदसदिति विवेकेऽन्यत्र भूप कुतस्त्यः॥

अर्थात् हे जीव! करोड़ों उपाय करने पर भी तुझे भोग्यफलों का भोगना और सहन करना ही पड़ेगा क्योंकि अपने द्वारा संचित किये हुए भले और बुरे कर्मों का कभी नाश नहीं होता। इस लिये जब जब वे जिस जिस रूप में आवे उन्हें तू बड़े ही धीरज के साथ सहन कर क्योंकि किये हुए भले और बुरे कर्मों को अवश्य भोगना पडता है कारण की बिना भोगा हुआ कर्म करोड़ों वर्षों तक भी क्षीण नहीं होता।

उसके इन विचारों ने और उसकी सहनशीलता ने उसे और भी अधिक प्रशंसा पात्र और दृढ संकल्प बना दिया था यहां तक कि इन्द्र ने भी देवसभा में उसकी प्रशंसा की। इन्द्र के मुख से उसकी प्रशंसा सुनकर दो देवों ने उसकी परीक्षा लेने का विचार किया और वे उसी समय वैद्य का स्वरूप बनाकर उसके पास पहुँचे और बोले—" हे रोग! हम तुझे रोग मुक्त करदें,



परन्तु रात्रि में मधु मद्य और मांस का भक्षण करना पड़ेगा ?" यह सुनकर 'रोग' ने अपने मन में विचार किया कि साधारण कुल में जन्म लेने पर भी निन्दित कर्मों का परित्याग ही मनुष्य के महात्म्य को बढ़ाने वाला है क्योंकि सदाचार से हीन मनुष्य का कुल प्रमाणिक नहीं समझा जाता। किन्तु नीच कुल में जन्म लेने वाले का भी श्रेष्ठ आचरण प्रमाणिक समझा जाता है। इस लिये चाहे नीतिज्ञ लोग मेरी निन्दा करें या स्तुति, लक्ष्मी मेरे पास आवे या न आवे, मेरी मृत्यु चाहे आज हो या सैकड़ों वर्ष बाद हो, मैं तो कभी न्याय मार्ग को छोड़कर निंदित कर्मों को न अपनाऊंगा। इस प्रकार अपना दृढ़ निश्चय करके वैद्यों को उत्तर दिया कि हे वैद्यवरो! मैं तो दूसरी पवित्र औषधियों द्वारा अपने रोग की चिकित्सा कराना नहीं चाहता तो फिर मैं शास्त्रनिन्दित और धर्मात्माओं के असेव्य पदार्थों से अपना इलाज कराही कैसे सकता हूँ।

रोग के ऐसे दृढ़ वचन सुनकर वैद्यों ने उसके स्वजनों को उसे व्याधिमुक्त करवाने के हेतु प्रेरित किया। स्वजनों ने भी अपने को इस कार्य को करने में असमर्थ देख राजा से इस कार्य को सफल बनाने के लिये प्रार्थना की। इस प्रकार कुटुम्बियों और राजघराने ने मिलकर उसे शास्त्र आदि के प्रमाण बताकर उसे चिकित्सा कराने के लिये बहुतेरा समझाया किन्तु उसने किसी की एक न सुनी। धर्म में अटल होने के कारण उसने इस नश्वर शरीर की आन छोड़ कर मोक्ष सुख की प्राप्ति की ही एक ही धुन पकड़ रक्खी थी क्योंकि शास्त्र का फरमान है कि—

तं भज्ज सुह भविणोसभरणीय तय भवे कल्ल ।
मगान्ति निरुवसग्ग अपवग्गसुहं वुहा तेण ॥ १॥

साराश यह है कि भव्यात्माओं को चाहिये कि वे अविनाशी शान्त मोक्षसुख की प्राप्ति का प्रयत्न करें जिससे कि उनका उभय काल में कल्याण हो। इसी कारण को सामने रख कर विद्वान लोग उपसर्ग रहित मोक्षसुख को ढूँढा करते हैं। शास्त्रों में लिखा है कि दुःख के लिये धनकी रक्षा करे और धन द्वारा स्त्री की रक्षा करे तथा स्त्री और धन दोनों स भी अपनी रक्षा करे। इसलिये देखिये! धार्मिक पुरुषों का शरीर धन के तुल्य है और आत्मादेह के तुल्य है इस कारण देह पीड़ा की उपेक्षा करके भी आत्मा की रक्षा करनी चाहिये। इस प्रकार अपने अवधिज्ञान द्वारा उसे दृढ़ प्रतिज्ञ समझ कर उसके समक्ष प्रकट हो उन दोनों देवों ने उसकी खूब प्रशसा की। उसे निरोग करके और उसका सारा घर रत्नों की वृष्टि से भर कर वे दोनों देवता अपने स्थान पर चले गये। बाद म वह 'आरोग्यद्विज' नाम से लोगों म प्रसिद्ध हुआ।

उपरोक्त कथानक से यह सिद्ध हुआ कि निंद्य कर्मों के त्याग से ससार में अपना यश और प्रतिष्ठा बढ़ती है और गुणी बनने के साथ साथ मोक्ष सुख का सहज ही में अधिकारी बनजाता है। निंद्य कर्मों का त्याग करके अनिंद्य कर्म इस प्रकार के करने चाहिय जिससे किसी को कोइ कष्ट न हो और कर्ता स्वयं अन्त में सुखी बने। क्योंकि यह मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है इसलिये इस जन्म को पाकर ऐसे ऐसे उत्तम कार्य करने चाहिये जिससे कि उसका एक क्षण भी व्यर्थ में न जाय। मनुष्यों के



इस जन्म में अपने उत्तम उत्तम कर्मों द्वारा खूब पुण्य एकत्रित कर लेना चाहिये जिससे कि भवान्तर म उन्हें निश्चय शुद्ध और, उच्च कुल में जन्म मिले। प्रतिवर्ष अपने धन के अनुमान से, स्वधर्मी भाइयों और धर्माचार्यों का पूजन तथा कुटुम्ब के वृद्ध पुरुषों का यथाशक्ति आदर करना चाहिये। प्रतिवर्ष तीर्थ यात्रा के साथ अपने गुरु के समक्ष प्रायश्चित करना चाहिये जिससे कि आत्मा दर्पण के समान उज्ज्वल बन जाय।

अब बारहवें गुण में यह बतलाया जाता है कि श्रावक को चाहिये कि वह अपनी आय क अनुसार व्यय करे क्योंकि ससार में वही मनुष्य सुखी है जो अपन लाभ के मुताबिक ही दान देता है और लाभ के मुताबिक ही धन का उपभोग करता है तथा अपनी आयके अनुसार कुछ पैसा बचाकर उसे अपने पास जमा रखता है।

जो मनुष्य अपना आय के अनुसार खर्च न कर उससे अधिक खर्च करने लग जाता है वह अन्त में बड़ा दुःखी होता है। उस अपने आभूषण घर धार कपडे लत्ते आदि सभी अपना ऋण चुकाने के लिये बेच देने पड़ते है तब भी वह ऋण दाताओं से उऋण नहीं होता। ऋण न चुकाने पर दुनिया में उसका विश्वास उठ जाता है और कभी कभी उसकी यहा तक नौबत आजाती है कि उसे भूखों मरना पड़ता है एव ऋणदाताओं के तग करने पर उसे लज्जा के मारे अपने प्राण भी गँवाने पड़ते हैं। एक विद्वान का कहना है कि जो मनुष्य सौ रुपये महावार कमाता है और एक पैसे कम सौ रुपये खर्च करता है वह अमीर और सुखी है किंतु



जो व्यक्ति अपनी आय से एक पैसा भी ज्यादा खर्च करता है वह निर्धन और दुःखी है। इसलिये प्रत्येक गृहस्थ के लिये यह सब से पहला कर्त्तव्य है कि वह अपने आड़े (दुःख के) समय के लिये कुछ न कुछ अवश्य बचा रक्खे। क्योंकि आय से कम खर्च करने वाला कभी दुःखी नहीं होता जो निर्धन है उन्हें चाहिये कि वे अपनी आय के चार हिस्से करलें। पहले भाग को तो खजाने में रक्खें दूसरे हिस्से को धन के लिये एकत्रित करे तथा तीसरे भाग का धार्मिक कार्यों मे और उपभोग में खर्च करे और चौथा हिस्सा अपने कुटुम्ब के पालन पोषण में खर्च करे। किन्तु जो मनुष्य धनवान हैं उनके लिये शास्त्र यह बतलाता है कि वे अपनी आमदनी आधे या उससे अधिक हिस्से को धार्मिक कार्यों मे व्यय करे और जो कुछ बाकी बचे उससे इस लोक के सभी आवश्यक कार्यों की यत्न पूर्वक पूर्ति करें। धनी मनुष्य का त्याग ही गुण है और त्यागी मनुष्यों का धन ही गुण है। इसलिये इन दोनों का जब तक परस्पर सम्बन्ध रहता है तब तक ही ये दोनों अच्छे मालूम होते हैं और जब एक दूसरे से पृथक् होजाते हैं तो उपहास का कारण बनजाते हैं। जिस प्रकार रोग शरीर को कृश (दुर्बल) कर देता है ठीक उसी तरह आय से अधिक व्यय मनुष्य के सारे ऐश्वर्य को क्षीण करके उसे व्यावहारिक कार्यों में असमर्थ बनादेता है। कहा भी है—

आयव्यय मनालोच्य यस्तु वैश्रमणायते।
अचिरेणैव कालेन सोऽत्र वै श्रमणायते॥

अर्थात् जो मनुष्य आय व्यय का बिना विचार किये ही कुबेर की तरह खूब खर्च करता है वह शीघ्र ही इस लोक में फकीर बन जाता है। लक्ष्मी पूर्व कृत पुण्यके अनुसार प्राप्त होती है ऐसा समझकर अपनी आय के कम होने पर भी अपने घर खर्च में कमी करके मनुष्य को थोड़ा बहुत पुण्य अवश्य करना चाहिये। पुण्य कार्य में थोड़ा भी किया हुआ व्यय समय पाकर करोड़ों गुणा फलदेता है। इस प्रकार अपनी आयके अनुसार व्यय करने वाला गृहस्थ प्रतिष्ठा, सुखसम्पत्ति, यश, पुण्य और त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ ओर काम) को इस दुनियाँ में प्राप्त करता है अत यह प्रत्येक पुरुष का कर्तव्य है कि वह अपनी आय के अनुसार व्यय करे। इसी में उसका भला है।

॥ अथत्रयोदशो गुण प्रारभ्यते ॥

अब त्रयोदश गुण में गृहस्थ के वेष भूषा के विषय में लिखा जाता है। ससार में बाह्य दृष्टि से मनुष्य का आदर और अनादर सर्व प्रथम वस्त्र देख करके ही किया जाता है और इसके विषय में एक किंवदन्ती भी प्रसिद्ध है।

एक समय की बात है कि एक गुणी सज्जन फ्रान्स के प्रसिद्ध वीर नेपोलियन बोनापार्ट से मिलने गया। उसने जाकर द्वार रक्षकसे कहा कि तुम अन्दर जाकर अर्ज करो कि एक आदमी आप से मिलना चाहता है। यह सुनकर द्वारपाल ने भीतर जाकर नेपोलियन से प्रार्थना की ओर उससे उस विषय की आज्ञा

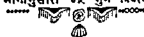


पाकर उसने उस आगन्तुक व्यक्ति का प्रवेश नेपोलियन के महल में करा दिया।

उस व्यक्ति ने महल में प्रविष्ट होकर नेपोलियन को प्रणाम किया और उसके पास ही पड़ी हुई एक कुर्सी पर बैठ गया। परस्पर में बहुत देर बातचीत होने के पश्चात् वह मनुष्य उससे आज्ञा लेकर वहाँ से रवाना हुआ। नेपोलियन भी उसके गुणों पर मोहित होकर उसे किले के फाटक तक पहुँचाने के लिये आया। यह देखकर उस व्यक्ति ने अचम्भित होकर नेपालियन से इसका कारण पूछा। उसने उत्तर दिया कि आते वक्त मैंने तुम्हारे वस्त्र देख कर तुम्हारी उपेक्षा की किन्तु जाते वक्त मैं तुम्हारे गुणों पर मुग्ध होकर तुम्हें यहाँ तक पहुँचाने के लिये आया हूँ। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य का सर्व प्रथम आदर वगैरह जो होता है वह उसके वेष भूषा से ही होता है। कहा भी है—

> किं वाससा नैव विचारणीयं,
> वासः प्रधान खलु योग्यताया.।
> पीताम्बर वीक्ष्यददौ तनूजा,
> दिगम्बरं वीक्ष्य विषं समुद्रः ॥१॥

अर्थात् वस्त्र से क्या ? ऐसा विचार मनुष्य को अपने मन में कभी न लाना चाहिये क्योंकि योग्यता को प्रकट करने में सर्व प्रथम वस्त्र ही सहायक होते हैं। देखो ! विष्णु भगवान को पीत पटधारी देखकर समुद्रने उन्हे अपनी कन्या लक्ष्मी विवाह दी और



महादेवजी को नग्न देखकर उन्हे पान करने के लिये विष दिया। अत मनुष्य मात्र को चाहिये कि वह अपना वेष उत्तम रक्खे और साथ में इस बात का भी खयाल रक्खे कि उसका वेश उसकी आय के अनुसार हो तथा स्वच्छ हो। क्यों कि अपनी आमदनी से अधिक कीमत वेष रखने वाला व्यक्ति लोगो में उपहास का पात्र होता है कारण यह कि उसके विषय में तरह तरह की बुरी बुरी बातों का लोगों में अपने आप प्रादुर्भाव हो जाता है।

जो मनुष्य आय के अधिक होने पर भी कजूसी से खर्च नहीं करता है जो धन होने पर भी अपना वेष मलिन और खराब रखता है उसकी भी लोगो में निन्दा होती है और लोग उसे धार्मिक कार्यों में अधिकारी नहीं समझते। कहा भी है—

अर्थादधिकनेपथ्यो, वेषहीनोऽधिक धनी।
अशक्तो वैरकृच्छक्तै, र्महद्भिरुपहस्यते ॥१॥

अर्थात् जो मनुष्य अपने धन से ज्यादा मूल्य के वस्त्र रखता है और जो अमीर होते हुए भी हीन वेष धारण करता है तथा जो अशक्त होते हुए भी शक्तिशालि पुरुषों से वैर रखता है ऐसे पुरुष की बड़े लोगा द्वारा हसी उड़ाई जाती है। अत अपनी आय के अनुसार वेष रखने पर भी जिनालय या उपाश्रय आदि धार्मिक स्थानों में जाने के समय सदैव के वेष से कुछ अधिक उत्तम वस्त्र और अलंकार सम्पन्न वेष रखना चाहिये। क्यों कि निर्मल और अहिंसक शास्त्रयुक्त अपने योग्य वस्त्र धारण करने वाला पुरुष मंगल स्वरूप होता है और मगल से ही लक्ष्मी (धन) की उत्पत्ति

होती है। इसलिय कर्णदेव की तरह श्रावक मात्र को अपनी शो भा और धर्म की उन्नति के लिए शासन के प्रभाव की वृद्धि के हेतु भूत अपने वेष भूषा को उत्तम रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

॥ अथ चतुर्दशो गुणः प्रारभ्यते ॥

अब क्रमानुसार प्राप्त हुए चतुर्दश गुण में यह बतलाया जाता है कि श्रावक को आठ प्रकार के बुद्धि-गुणों से युक्त होना चाहिये। वे बुद्धि के आठ गुण कौनसे हैं? इस प्रश्न का उत्तर देता हुआ शास्त्र लिखता है कि—

शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहाऽपोहोऽर्थ विज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥१॥

अर्थात् (१) सुनने की इच्छा (२) सुनना (३) शास्त्र द्वारा बतलाइ हुइ बात का ग्रहण करना (४) बतलाई हुई या सुनी हुई अथवा पढी हुई बात को हृदय में धारण करना अर्थात् उसे याद रखना (५) ज्ञात अर्थ का आश्रय लेकर के उसके समान दूसरे अर्थों में व्याप्ति द्वारा तर्क वितर्क करना (६) युक्ति और प्रमाण द्वारा हिंसादि अकरणीय कार्यों से विघ्न की सम्भावना होने से दूर रहना (७) अर्थ ज्ञान (८) सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान द्वारा तर्क वितर्क के पश्चात् किसी निश्चय (सिद्धांत) पर पहुँच जाना ये आठ प्रकारके लक्षण सहित बुद्धि के गुण बताये गयेहैं।



शुश्रूषादि इन आठ प्रकार के बुद्धिगुणों से युक्त बुद्धिमान पुरुष सदैव विचार पूर्वक कार्य करता हुआ कभी भी अकल्याण को प्राप्त नहीं होता। वह हमेशा सम्पूर्ण धार्मिक व्यवहारों और परमार्थों को सब तरह से आलोचना करने में तत्पर होजाता है। कहा भी है—

बुद्धिजुओ आलोयइ धम्मट्ठाण ववाहि परिसुद्धं।
जोगत्तमप्पणो चिय अणुबन्ध चेव जत्तेणं ॥१॥

बुद्धिमान पुरुष द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप विशेषणं से निर्दोष धर्मस्थान को आलोचना करता है और साथ में अपनी योग्यता का भी विचार करता है कि मैं किस धर्मस्थान के योग्य हूँ। समय कैसा है, मित्र कौन कौन हैं, देश कैसा है, आय-व्यय कितना है, मैं कौन हूँ और मेरी शक्ति कितनी है। इस प्रकार विचार करने वाला पुरुष बड़े यत्न द्वारा उत्तरोत्तर फल के स्वरूप को भी अपनी बुद्धि से जान लेता है। विषयानुसार जानने योग्य सभी धर्मादि वस्तुएँ उससे भला प्रकार जान ली जाती हैं। जिसमें उपरोक्त शक्ति नहीं होती वह विपरीत कार्य कर बैठता है। इस विषय की पुष्टि में नारद और पर्वतक का दृष्टांत दिया जाता है।

नारद और पर्वतक का दृष्टान्त

प्राचीन समय में शुक्तिमती नगरी में क्षीरकदम्बक नाम के उपाध्याय रहते थे। वे वेद शास्त्रों के पूर्ण ज्ञाता और प्रखर



विचक्षक थे। उस समय उनके समान कोई दूसरा वेद व्याख्याता नहीं था। दसों दिशाओं में उनकी शरद ऋतु की चांदनी की तरह सफेद कीर्ति दसों दिशाओं में फैली हुई थी। दूर दूर से आकर विद्यार्थी उनसे विद्या प्राप्त करते थे। वसु पर्वतक और नारद ये तीनों विद्यार्थी आपके पास वेद पढ़ा करते थे।

एक समय दो तत्वज्ञानी मुनि विहार करते हुए उसी नगरी में आये। उन तीनों को पढ़ते देखकर एक मुनि ने दूसरे के प्रति कहा, "मुने! इन तीनों में से वसु राजा होगा और बाकी बचे हुए दो ब्राह्मणों में से एक नरक में जायगा और दूसरा स्वर्ग में" वहीं पर छिपे हुए उपाध्याय ने मुनि के ये वचन सुन लिए और उसने इस बात की परीक्षा करने का विचार किया।

उपाध्याय ने पर्वतक को कृष्णाष्टमी की रात्रि में अपने पास बुलाया और उसे एक बनावटी बकरा सौंप कर कहा—"पुत्र! तुम इस बकरे को निर्जन प्रदेश में ले जाकर मार डालो, इससे तुम्हें बड़ा लाभ होगा और तुम में वेद सुनने की योग्यता भी आ जायगी।" 'गुरुजनों की आज्ञा को अविचारणीय समझ वह उस बकरे को अपनी पीठ पर लादकर निर्जन स्थान में चला गया। वहां पर उस अज्ञानी ने उस बकरे को मार डाला। लाख के रस से भर जाने के कारण अपने को रक्त रंजित मान कर उसने तालाब में स्नान किया और बाद में गुरु के पास पहुँच उसने सारा हाल कह सुनाया।

उसके मुख से सारा हाल सुनकर गुरु ने उसे फटकारा और



कहा कि रे! दुष्ट! मैंने तुझे बकरे का ऐसी जगह पर मारने को कहा था कि जहा पर किसी की दृष्टि न पड़े। पर तूने इस बात का अपने दिल में तनिक भी विचार न किया। क्या आकाश में विचरने वाले देवों से, रात्रि में चमकते हुए तारों से तुम्हारा यह कुकर्म नहीं देखा गया? क्या तेरी आत्मा ने इस कुकृत्य को अपनी आखों से नहीं देखा? फिर तू किस प्रकार कह रहा है कि मैंने इसे आप द्वारा बतलाई हुई जगह पर ही मारा है। मूर्ख! व्यर्थ में ही तूने बिना सोचे समझे इस निरपराधी मूक पशु का वध कर डाला। जा! आज से तू वेद पठन के अयोग्य सिद्ध हुआ। इस तरह गुरु ने उसे बहुत धिक्कार कर उसे वहा से विदा किया क्योंकि इसमें स्वयं सोचने की प्रज्ञा न थी।

इसी तरह उपाध्याय ने कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि में नारद को बुलाकर वही काम सौंपा और उसे भी पर्वतक की तरह हर बात से सूचित कर दिया। गुरु के वचनों को शिर पर धारण करके नारद अपने कधों पर उस बकरे को उठाकर वहाँसे रवाना हुआ। घूमते २ उसे बहुत समय व्यतीत होगया पर उसे ऐसा स्थान कहीं भी नजर न आया जहा पर किसी की दृष्टि न पड़े। उसने अपने दिल में विचार किया कि इस कुकृत्य को वन के देवता, आकाशगामी देव और तारागण तथा मेरी आत्मा सब देखेगी। ऐसा कोइ स्थान नहीं है जहा किसी की दृष्टि न पड़े। यह सोच कर उसने उस बकरे का अपने मन म अवध्य ठहराया और वहा से लौटकर गुरु के पास आ उपस्थित हुआ। गुरु के पूछने पर उसने अपने मन के सारे विचार गुरु के समक्ष प्रकट कर दिये।

गुरु भी उसके विचारों को सुनकर अतीव सन्तुष्ट हुए और बोले—"पुत्र ! तुम्हारी बुद्धि प्रशंसनीय है। दूसरों के अभिप्राय का जान लेना ही बुद्धिमानी है। कहा भी है—

उदीरितोऽर्थ पशुनाऽपि गृह्यते ।
हयाश्च नागाश्च वहन्ति नोदिता ॥
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जन. ।
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धय ॥१॥

अर्थात् बतलाई हुई बात पशु भी ग्रहण कर लेते हैं, प्रेरे हुए हाथी और घोड़े भी उसी तरह काम करने लग जाते हैं जैसा कि आप लोग आजकल सरकसों में देखते हैं। पंडित आदमी बिना कही हुई बात को भी जान लेते हैं। दूसरों के अभिप्रायों को चेष्टा द्वारा ही जान लेना बुद्धि का फल है। बाद में गुरु ने नारद से इस बात को गुप्त रखने के लिए कहा और उसे बुद्धिमान समझकर बड़े प्रेम से उसे वेद पढ़ाने लगा।

इस प्रकार जो मनुष्य निर्दोष बुद्धि के इन आठ गुणों से सम्पन्न होकर हरएक कार्य में विचार पूर्वक प्रवृत्त होता है उसके सारे कार्य सफल होते हैं। वह धर्मप्रेमी बनकर उभय लोक में सुखी होता है। वह अपने बलवान से बलवान शत्रुओं को भी आसानी से पराजित कर देता है। वह किसी के माया जाल से नहीं फँसता और दैवयोग से फँस भी जाता है तो वह कोई न कोई उपाय सोचकर तुरन्त ही उस जाल से मुक्त हो जाता है।





तर्क वितर्क और वाद विवाद मे सर्वत्र उसकी जीत होती है और वह एक याग्य सलाहकार व्यक्ति माना जाता है। उसमें अपना तथा पराये का भला बुरा सोचने की समर्थता आजाती है। उसकी बुद्धि के चमत्कारो को देखकर सारे लोग दांतों तले अगुली दबाने लग जाते हैं और सर्वत्र उसको मान होता है। अत श्रावक मात्र को आठ प्रकार के बुद्धि-गुणो से युक्त होने के लिए हर समय उपाय करते रहना चाहिये क्योंकि ये ही गुण उसकी त्रिविध उन्नति के अमर सोपान हैं।

॥ अथ पञ्चदशोगुण प्रारभ्यते ॥

अब पन्द्रहवें गुण में इस बात का विवेचन किया जाता है कि श्रावक को हमेशा धार्मिक बातें सुननी चाहिए। धमशास्त्रों के सुनने से बुद्धि निर्मल होजाती है और पाप पथ की ओर प्रवृत्त हुई चित्त वृत्तियाँ कछुए के अवयवों की तरह सिकुड़ कर पुन अपने असली स्वरूप पर आजाती है। हृदय में उत्पन्न हुई कुवासनाएँ और कुभावनाए प्रतिदिन धर्म श्रवण करने से एक दम विनष्ट होजाती हैं और श्रोता का मन आदर्श (दर्पण) की तरह स्वच्छ होजाता है। धर्म सुनने वाले व्यक्ति के पाप नष्ट होजाते हैं, और उसका चित्त एकाग्र होकर देवगुरु की भक्ति और पुण्य कार्यों में अविरल गति से सलग्न होजाता है। धर्म श्रवण करने वाला व्यक्ति इस जन्म में अनेक प्रकार के कल्याण और सुखों को प्राप्त होता है और मृत्यु के उपरान्त मोक्ष को प्राप्त होता है क्योंकि वैशेषिक



दर्शन में किये गये 'यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म' इस लक्षण का भावार्थ इसी उपरोक्त बात को प्रकट करता है। प्रतिदिन श्रवण किया हुआ धर्म श्रोता के मन से खेद को, मलिनता को और व्यर्थ के तर्क वितर्क से उत्पन्न हुए भ्रम को दूर करता है और उसे सासारिक विषय वासनाओं से अत्यन्त लिप्त नहीं होने देता। उसे कुमार्ग स रोककर सत्पथ की ओर अग्रसर करके उसे ऐहिक और पारलौकिक सुखों का पूर्ण भोक्ता बना देता है एव उसके गुणों की उत्तरोत्तर वृद्धि करता है।

जो मनुष्य बचपन से ही धर्मात्मा होता है, जिसके सस्कार प्रारंभ स ही धर्म की ओर झुके होते हैं ऐसे धार्मिक व्यक्ति को भी यदि निरन्तर धर्म-श्रवण का अवसर न मिले तो उसे उपलब्ध हुआ धार्मिक ज्ञान भी नष्ट होजाता है और ससर्ग के अनुसार उसके मानसिक विचारों में भी परिवर्तन होजाता है तथा उसका परिणाम यहा तक भयकर निकलता है कि अपने चिरसचित धार्मिक पथ से विचलित होकर अपने ही हाथों अपना सर्वस्व नष्ट कर बैठता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिये मणिकार सेठ की आख्यायिका लिखते हैं।

॥ मणिकार सेठ की कथा ॥

एक समय राजगृह नगरी में भगवान् महावीर स्वामी का समवसरण हुआ। वहाँ पर, सौधर्मकल्पवासी दर्दुराङ्कदेव, अपने साथ चार हजार ...ओं को लेकर आया। यहा सूर्याभ



देव की तरह वीर भगवान् के समक्ष ३२ बद्धनाटक करके अपने स्थान को लौट गया। उसकी ऐसी आश्चर्यकारिणी समृद्धि को, देखकर गौतम ने चकित हो भगवान् से पूछा— "भगवन्! दर्दुराङ्क देव को इतना ऐश्वर्य किस प्रकार प्राप्त हुआ? गौतम की इस शंका का समाधान करते हुए भगवान् ने दर्दुराङ्क देव के पूर्व भव के वृतान्त को कहना प्रारम्भ किया।

इसी राजगृह नगरी में मणिकार नामक एक बड़ा सेठ था। एक दिन वह मेरे मुख से निकले हुए धर्मोपदेश को सुनकर धार्मिक बन गया। वह मन, कर्म और वचन से बड़ी ही सावधानी के साथ धर्म का पालन करने लगा। ऐसा करते हुए बहुत दिन बीत गये। धर्मोपदेशक साधुओं के अभाव से अन्त में उसके विचारों पर मिथ्या बुद्धि ने अपना अड्डा जमा लिया। इस कारण उसकी बुद्धि स्थिर न रहसकी और उसके चचल चित्त में कई प्रकार के संकल्प विकल्प लहरों की तरह उमडने और विलीन होने लगे।

एक समय उसने ग्रीष्मऋतु में पौषध सहित अष्टम (तेला) व्रत किया। तीसरे दिन की रात्री में उसे बड़े जोर की प्यास लगी जिससे उसे आर्तध्यान उत्पन्न हुआ। आर्तध्यान से प्रभावित होकर वह अपने मन में इस तरह विचार करने लगा "संसार में वे धन्य हैं जो कुए, बावडियें और तालाब आदि का निर्माण कराते हैं। जो सहस्रों रुपये व्यय करके सबकी आत्मा को सन्तुष्ट करने वाले उद्यानयुक्त मठ, मन्दिर और अन्नक्षेत्र आदि बनवाते हैं। अतः मैं भी कल सुबह श्रेणिक राजा से आज्ञा लेकर वैभार



गिरि के पास ही में जलाशय करवाऊँगा" - प्रातःकाल होने पर प्राभादि आवश्यक कृत्यों से निवृत होकर राजा के पास पहुँच उसन अपना इच्छा प्रकट की राजा का आज्ञा मिलने पर उसने अपने निश्चित स्थान पर एक बावड़ी कराई और जगह जगह मन्दिर, मठ और अन्नक्षेत्र आदि बनवाये।

इस तरह मिथ्या बुद्धि के प्रभाव से ग्रसित होकर वह अपने पालन किये हुए धर्म मे भा शनै शनै हाथ खिचने लगा। ऐसा करने के कारण उसके बड़े बड़े सोलह रोग उत्पन्न हुए। रोग पीडा में भी उस बावड़ी का ध्यान बना रहा। इस लिये मरकर वह उसी बावड़ा में मेंढ़क हुआ। बावड़ी को देखते ही उस जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। तदनन्तर, धर्म की विराधना करने का ही यह फल मुझे प्राप्त हुआ है ऐसा सोचकर उसका मन वैरागी बनगया। उसने अपने मन में यह अभिग्रह धारण किया कि मैं बेले का तप करूगा और पारणे के समय मनुष्यों के स्नान किये हुए जल और मिट्टी से ही अपने पेट की ज्वाला को शान्त करूगा दूसरे दिन उसने वैसा ही किया और याद में लोकों के मुख स मेरा समवसरण सुन वह दर्दुर भी अपने स्थान से मेरे वन्दनार्थ चला। मार्ग म श्रेणिक राजा के घोड़े की टाप से कुचल जाने के कारण वह मर कर देव हुआ। अब वहा से विदेह में च्युत होकर मोक्ष को प्राप्त होगा। इस दृष्टान्त से यही शिक्षा मिलती है कि श्रावक मात्र को नित्य धर्म श्रवण करना चाहिये। क्योंकि जो धर्म श्रवण नहीं करता उसे मणिकार सेठ की तरह दुःख उठाने पड़ते हैं।

॥ अथ षोडशो गुणः प्रारभ्यते ॥

अब क्रम प्राप्त सोलहवें गुण में अजीर्ण किसे कहते हैं? इसकी पहिचान क्या है? इसके होने से क्या हानि होती है और इसके शमन के क्या क्या उपाय हैं? इस बात की मीमांसा की जाती है।

'आयुर्वेद' अजीर्ण का लक्षण करता हुआ लिखता है कि जो अन्न चिन्ता क्रोध आदि कारणों से विशेष मात्रा में खालिया जाता है और उसका पूर्णतया परिपाक न होने से तथा यथार्थ मात्रा में पेट म पाना न पहुँचने से जो रोग उत्पन्न होता है उसे अजीर्ण कहते हैं।

इस रोग मे मनुष्य को अपाचन दोष होने के कारण दस्त होने लगते हैं। पेट गुड़ गुड़ाने लगता है, आफरा चढ़ जाता है, खट्टी खट्टी डकारें आने लगती है, जी मिचलाने लगता है, कभी कभी तो वमन और विरेचन दोनों साथ साथ होने लगते हैं और अजीर्ण हैजे का रूप धारण कर लेता है। 'अजीर्ण प्रभवा रोगा' इस सिद्धान्त से पता चलता है कि दुनिया के सभी रोग अजीर्ण से उत्पन्न होते हैं। यह अजीर्ण चार प्रकार का होता है। आम, विष्टब्ध, विदग्ध और रस शेष। इनमें से रस शेष अजीर्ण तो प्राय सबको होता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को प्रात दस बजे भोजन करना विशेष लाभ दायक होता है। अजीर्ण का औषध केवल जल पान ही बतलाया गया है जैसे—



'अजीर्णे भेषज वारि, जीर्णे वारि बलप्रदम्'

अर्थात् अजीर्णावस्था में पिया हुआ पानी औषध का सा फायदा पहुँचाता और जीर्णावस्था में पीया हुआ जल विशेष बल दायक होता है अत अजीर्ण होने पर शनै शनै जल विशेष मात्रा में पीना चाहिये और जब तक खाया हुआ अन्न पूर्णरीति स हजम न हो जाय तब तक भोजन नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसी अवस्था में किया हुआ भोजन उस रोगको और भी अधिक प्रबल कर देता है। उससे फिर वृक्ष की शाखाओं की तरह कई प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं जिनसे मनुष्य बहुत दुःख पाता है और अन्त म उसे विवश हो मौत का शिकार होना पड़ता है। अपने शरीर में जितना भोजन पचाने की शक्ति हो उतने ही परिमाण में भोजन करना चाहिये। ज्यादा ठूँस ठूँस कर नहीं खाना चाहिये। इसस लाभ के बजाय हानि ही होती है। इस प्रकार भोजन करने वाले कई चौबे महाशयों को गर्मी मे छटपटाते देखा है। इसलिए योग्य व समझदार व्यक्ति को भोजन अच्छी तरह हजम होने पर ही दूसरी बार खाना चाहिए। अगर पहले का खाया हुआ हजम न हुआ हो तो उसे भोजन नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति अजीर्णावस्था में भोजन नहीं करता वह कभी किसी रोग का शिकार नहीं होता। उसका स्वास्थ्य हमेशा बना रहता है और उसको किसी भी प्रकार की शारीरिक पीड़ा होने नहीं पाती। अत मनुष्यमात्र को, जो अपना शारीरिक सुख चाहते हैं अजीर्णावस्था में भोजन त्याग देना चाहिये। इसी में उसका भला है।



अर्थात् धर्म, अर्थ और काम ये तीनों बराबर सेवन करने योग्य हैं। जो इनमें से किसी एक में लीन रहता है वह नीच है जो दो में चतुर है वह मध्यम कहा जाता है। उत्तम तो वही है जो बिना किसी बाधा के धर्म अर्थ और काम इस त्रिवर्ग का समान भाव से सेवन करता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि त्रिवर्ग की व्याख्या क्या है? इसका क्रमशः संक्षेप में उत्तर दिया जाता है। 'यतोऽभ्युदय निश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिस कर्म से अभ्युदय की सिद्धि के साथ साथ मोक्ष की सिद्धि भी प्राप्त हो उसे धर्म कहते हैं। और 'यत सर्वार्थ प्रयोजन सिद्धि सोऽर्थ' अर्थात् जिससे सभी प्रकार के आर्थिक प्रयोजनों की सिद्धि होती है उसे अर्थ कहते हैं। 'यत आभिमानिकरसानुविद्धा सर्वेन्द्रियप्रीतिः स काम' अर्थात् जिससे अभिमान सम्बन्धी रसों से युक्त वाञ्छित सुखों की अभिलाषाओं की तृप्ति द्वारा सभी इन्द्रियों को तृप्त करना, काम कहलाता है। इन तीनों के परस्पर के प्रतिबन्ध को दूर करके इनका साम्य भाव से सेवन करना विशेष महत्त्व रखता है।

यस्य त्रिवर्ग शून्यानि, दिनान्यायान्ति यान्तिच ।
लोहकार भस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ १ ॥

अर्थात् जिस मनुष्य की आयु के अमूल्य दिवस धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग से रहित हुए हुए व्यतीत होते हैं वह लुहार की धौंकनी के समान साँस लेता हुआ भी मरे हुए के समान है। अर्थ और धर्म को छोड़कर केवल काम विषय में ही प्रवृत्त होने

वाला व्यक्ति जगली हाथी की तरह अत्यन्त दु:खी और विपत्तिग्रस्त होता है। जो काम में अत्यन्त आसक्त होता है उसके ब्रह्मदत्त की तरह न तो धन ही होता है और न धर्म ही तथा न उसके शरीर का स्वास्थ्य ही ठीक रहता है। धर्म और काम का अतिक्रमण कर देने पर एकत्रित किये हुए धन का भी दूसरे ही उपभाग करते हैं। स्वय तो मदमस्त हाथी की हिंसा करने वाले सिंह की तरह वृथा ही पाप का भागी होता है।

अर्थ और काम का उल्लघन करके, केवल 'धर्म' का ही सेवन करना गृहस्थो का धर्म नहीं है। यह तो केवल साधुओं का ही कर्तव्य है। धर्म मे बाधा पहुँचाकर अर्थ और काम का सेवन करना भी गृहस्थ का अशुभगति देने वाला है। क्योंकि अधर्मी मनुष्य का भविष्य अधकारमय और अशुभ होता है। इस प्रकार अर्थ की बाधा से धर्म और काम का सेवन करना मनुष्य को अधिक ऋणी बना देता है। काम की बाधा से अर्थ और धर्म को सेवन करने वाले मनुष्य के गार्हस्थ्य जीवन का पूर्णतया अभाव हो जाता है।

इस लिये उपरोक्त बातों से यह सिद्ध होता है कि गृहस्थ के लिये त्रिवर्ग की पारस्परिक बाधा अतीव अनुपयुक्त है। फिर भी यदि दैववश हो जाय तो काम की बाधा से धर्म और अर्थ की बाधा का रक्षण करना चाहिये क्योंकि इन दोनो से काम विषय की पूर्ति आसानी से हो सकती है। जहा काम और अर्थ दोनों की बाधा उत्पन्न हो तो धर्म की बाधा का रक्षण करना चाहिये क्यों कि साधु लोगों के धर्म ही धन होता है। कहा भी है—

प्रायश्चित करते थे यदि अतिथि सत्कार में उनको कभी कभी भूखा भी रहना पड़ता तो वे खुशी से इस बात को सहन करते थे। इन बातों के सहस्रों उल्लेख हमारे भारतीय शास्त्रों में भरे पड़े हैं जिन के पढ़ने से कण्ठ गद्‌गद हो जाता है, जिव्हा काँप जाती है और दो बूंद आँसू भी छलक आते हैं। देखिये कविवर मैथिली शरण गुप्त भी अपनी भारत भारती में इसका वर्णन करने से नहीं रुक सके।—

सर्वस्व करके दान जो चालीस दिन भूखे रहे।
अपने अतिथि सत्कार में फिर भी न जो रूखे रहे॥
पर तृप्ति कर निज तृप्ति मानी रन्तिदेव नरेश ने।
ऐसे अतिथि संतोष कर पैदा किये किस देशने ॥१॥

संसार के सभी देश इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि अतिथि सत्कार में भारत की समता करने वाला कोई दूसरा देश नहीं है। कारण यह है कि अतिथि सत्कार का जो माहात्म्य उसके निवासी जानते हैं उस महात्म्य के आलोक से दूसरे देश अपरिचित हैं।

भारतीय शास्त्र पुकार पुकार कर कहता है कि जिस गृहस्थ के घर से अतिथि निराश होकर लौटता है वह उसे अपने पाप देकर और उसका पुण्य लेकर जाता है। इसलिये प्रत्येक गृहस्थ का विशेषकर भारतीय गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह ऐश्वर्य की इच्छा करता हुआ, थके हुए, वृद्ध पूज्य घर पर आये हुए अतिथिका यथा शक्ति पूजन करे क्योंकि गृहस्थ को जो पुण्य अतिथि पूजन

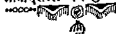


से मिलता है वह पुण्य उसे बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञों के करने से तथा अग्नि होत्र धारण करने से भी नहीं मिलता। शास्त्र तो यहा तक बतलाता है कि साधु और ब्रह्मचारी दोनों पके हुए अन्न के अधिकारी हैं इसलिये जो गृहस्थ उनको बिना भोजन कराये भोजन करता है तो उसे दण्ड स्वरूप चान्द्रायण व्रत करना पड़ता है। जो व्यक्ति अतिथि को भोजन कराने के बाद भोजन करता है, उसका आसनदान तथा पाद प्रक्षालनादि से स्वागत करता है वह गृहस्थ उभय लोक में आदि अन्त सुखी होता है। अत गृहस्थ को अपना मुख्य कर्तव्य समझकर पुण्य प्राप्ति के लिये सदैव अतिथि सत्कार में सलग्न और कटिबद्ध रहकर अपनी और अपने पूर्वजों की यशोगाथा को अमर तथा शास्त्र मर्यादा को अक्षुण्य बनाये रखना चाहिये।

इस विषय में शास्त्र गृहस्थ का कर्तव्य निर्दिष्ट करता हुआ लिखता है कि—

अर्हद्भ्य प्रथम निवेद्य सकल, सत्साधुवर्गाय च।
प्राप्ताय प्रविभागत सुविधिना,दत्वा यथाशक्तित:
देशायात सधर्मचारिभिरल, सार्ध च काले स्वयम्।
भुञ्जीतेति सुभोजन गृहवता पुण्य जिनै र्भाषितम्॥

अर्थात श्रेष्ट श्रावक को सबसे पहले भगवान को नैवेद्य चढा कर, बाद में सुयोग्य साधुओं को यथाशक्ति विभागानुसार देकर तथा दूसरे ग्राम या नगर से आये हुए अपने सधर्मी बन्धु के साथ समय पर भोजन करना चाहिये। ऐसा करने से पुण्यफल



वैसी ही उसकी स्त्री थी जो सदैव पति के मन के अनुसार कार्य करने वाली, सतीधर्म मे निपुण और यथाशक्ति गृहकार्य में सहायता देने में चतुर थी।

एक दिन उस नगर में किसी जैन मुनि का दैवयोग से आगमन हुआ। सुधन सेठ भी मुनि श्री के दर्शन और वंदन के लिये वहां गया। मुनिश्री ने देशना देते समय निम्न लिखित श्लोक का बडे ही विस्तार के साथ विवेचन किया।

वसुधाभरण पुरुषाः पुरुषाभरण प्रधानतरलक्ष्मीः।
लक्ष्म्या भरण दान, दानाभरण सुपात्रश्च ॥१॥

अर्थात् पृथ्वी के आभूषण मनुष्य हैं और मनुष्य का आभूषण ऐश्वर्य है लक्ष्मी का आभूषण दान है और दान का आभूषण सुपात्र को दान है। इस उद्देश्य से प्रभावित होकर सुधन सेठ ने मुनिमहाराज के सामने 'तीनों काल भगवान की पूजा करने का' एक दिन के अन्तर से उपवास करने का और अतिथि को पहले देकर बाद में पारणा करने का अभिग्रह धारण किया। बाद में अपने घर आ अपनी स्त्री से भी अपने अभिग्रह धारण करने को कहा।

स्वामी के मुँह से निकले हुए वचनों का पतिभक्ति परायणा पत्नि ने हृदय से स्वागत किया इस प्रकार उन दोनों के पुण्य कार्य करते करते किसी प्रबल अन्तराय कर्म के उदय होने के कारण उनका पूर्व संचित धन नष्ट होगया। समय फेर से वे दोनों अतीव निर्धन होगये। एक दिन स्त्रीने अपने पति से प्रार्थना की कि आप



मेरे पिता से द्रव्य माँगकर व्यापार करें किन्तु सेठ इस बातपर राजी नहीं हुआ क्योंकि वह जानता था कि

रहिमन याचकता गहे, बड़े छोट ह्वे जात ।
नारायण हूको भयो, बावन अगुर गात ॥

पर अन्त में स्त्री के बार बार कहन पर उसने विवश हो अपनी ससुराल की राह ली । रात में एक उपवास हुआ । दूसरे दिन तीसरे पहर साधु को सत् देकर पारणा किया । तीसरे दिन फिर नियमानुसार उपवास करना पड़ा । चौथे दिन सकुशल ससुराल पहुँचा । वहाँ पर उसका बहुत सम्मान हुआ किन्तु धन तो किञ्चितमात्र भी न मिला । निर्धन होने के कारण ऋण वापिस मिलन की आशा न होने से उसकी धन सम्बन्धी बातें किसी ने न सुना । कहा भी है-

धनमर्जय काकुत्स्थ ! धनमूलमिदं जगत् ।
अन्तरं नैव पश्यामि, निर्धनस्य मृतस्य च॥१॥

हे ! राम ! धन कमाओ । यह ससार धन मूल है । मैं निर्धन मनुष्य और मृत मनुष्य में कोई अन्तर नहीं देखता । तदनन्तर वह वहाँ कुछ दिन रह कर वापिस लौटा । अपने गाँव के पास नदी के किनारे आकर उसने सोचा स्त्री ने मुझे बड़ी उमग भरी अभिलाषा स भेजा था अत वह मुझे खाली हाथ आया हुआ जान बहुत दु खी होगी । यह विचार कर वह नदी के सुदर और सुडौल ककड़ों की एक गठरी बाँध, शिरपर रख अपने घर आया ।

पति को गठरी सहित आते देख वह बड़ी खुश हो उसके



सामने गई और पति से गठरी ले घरमें गई । वे सब कऊड़ भोजन के अभिग्रह से सतुष्ट हुई शासन देवताके प्रभावसे अमूल्य रत्न हागये । उसने एक रत्न को वेचकर अन्न वस्त्रादि का प्रबध किया । अवशिष्ट रत्नों से व्यापार करके वह पुन एक बड़ा व्यवहारी होगया । वह इस लोक में भी सुपात्र दान के फल की महिमा को देखकर सर्वदा के लिए अतिथि सेवा में सलग्न होगया । क्योंकि अवसर पर अभ्यागत को सतुष्ट करने से बड़े भारी पुण्य का प्राप्ति होती है । इसकी पुष्टि में एक और कथानक लिखा जाता है ।

प्रतिष्ठानपुर म शातवाहन नाम का राजा राज्य करता था । एक दिन वह घोडे से बलात् हरण किया हुआ किसी अज्ञात जगल में जा पहुँचा । वहाँ पर वड़ वृक्ष के नीचे बैठे हुए किसी भील के साथ उसकी मित्रता हो गई । यह 'राजा आज मेरा अभ्यागत है' ऐसा विचार कर । उसने सत्तू देकर भूख से व्याकुल राजा को तृप्त किया । बर्फ बरसाने वाली हेमन्त की रात्रि में राजा को घर के भीतर सुलाकर स्वय बाहर सोया । रात्री म सर्दी की अधिकतासे वह ठिठुर कर मर गया ।

प्रात काल जब भीलनी ने देखा कि मेरा पति इस राजा के कारण सर्दी से ठिठुर कर मरा है तो वह शीघ्र ही राजा के पास आकर बोली । राजन् ! मैं विधवा होने के कारण तुझे हिंसा का अपराध ठहराती हूँ । यह बात सुन राजा घबरा उठा और उसे दस हजार सुवर्ण मुद्राएँ देकर उससे अपना पिण्ड छुड़ाया । इतने



में राजा को ढूढती हुई सेना आ पहुँची और राजा अपनी सेना के साथ अपने नगर को लौट गया।

राज्य करते करते उस भील की मृत्यु याद आने से वह बहुत ही चिन्तित रहने लगा। उसके दिल में बार बार यही आता था कि दिये हुए दान का कुछ भी फल नहीं मिलता। इस लोक में तो दान देने से अनर्थ की सम्भावना ही दिखाई देती है। इस प्रकार चिंताग्रस्त राजा ने एक दिन पण्डितों को बुलाकर कहा कि आप लोग मुझे दान का फल प्रत्यक्ष रूप से दिखलावें नहीं तो आप सब लोगों को फाँसी देदी जायगी। राजा के प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ होने के कारण पंडितों ने दुखी हो परस्पर विचार किया। पर उन्हें कोई भी उत्तर न सूझा। मुख्य पंडितवर रुचि ने विवश हो सरस्वती का आह्वान कर उसे पूछा। सरस्वती ने सन्तुष्ट होकर कहा कि इस नगर में धनपति नामका एक सेठ है उसके एक महीने में लड़का होने वाला है। वह पैदा होते ही तुम्हें बुलावेगा और तुम भी राजा के साथ वहाँ जरूर जाना। वह तुम्हें अवश्य प्रत्यक्ष रूप से दान का फल दिखलावेगा।

सरस्वती के वचनानुसार उस सेठ के सचमुच एक पुत्र हुआ उसने जन्मते ही वररुचि को बुलाया। वररुचि भी राजा को साथ लेकर वहाँ पहुँचा। उन दोनों के सामने उस बालक ने कहा, "महाराज! जंगल में जिस भीलने सत्तू देकर आप के प्राणों की रक्षा की थी वह मैं ही हूँ और इस समय नव करोड़ सोने के स्वामी धनपति सेठ के यहाँ पुत्र रूप से पैदा हुआ हूँ।



दान का फल इस लोक में भी विद्यमान है इस बात से चमत्कृत हो राजा दया और दान में समान तौर से तत्पर हो गया। इसलिये जो मनुष्य अपने उभयलोक को सुधारना चाहें और सुखी रहना चाहें उन्हें चाहिये कि वेअभ्यागत आदि का भली प्रकार सत्कार करें जिससे व अन्त में सुखी हों।

॥ अथ विंशतितमो गुणः प्रारभ्यते ॥

अथ बीसवें गुण म यह बतलाया जाता है कि श्रावक को कभी कदाग्रही नहीं होना चाहिये। यदि वह कदाग्रही होगा तो वह अपनी ही सच्ची या झूठी बात पर अड़ा रहेगा और दिन प्रतिदिन उसका देव गुरु और शास्त्रों के वचनों पर श्रद्धा कम होती जायगी। केवल इतना ही नहीं वह अपने कदाग्रह के कारण आदरणीय व्यक्तियों का भी अनादर करने से नहीं हिचकिचा येगा। इससे उसकी असभ्यता और आग्रह बढ़ता ही जायगा और देव, गुरु तथा शास्त्रों की उसके द्वारा आशातना होने के कारण वह नीच उभयलोक में दुखों का शिकार होकर अन्त में अगति को प्राप्त होता है। इसका एक मात्र कारण यह है कि नीच मनुष्य की बुद्धि जिस विषय की ओर झुक जाती है उसी विषय को चाहे वह एक दम झूठा ही क्यों न हो कदाग्रह का अवलम्बन करके उसी के समर्थन में संलग्न हो जाती है। अतः वह कदाग्रह के वशीभूत होकर दीन और दुनियाँ में से किसी एक के काम का भी नहीं रहता और अन्त में उसकी चमगादड़ कीसी दशा होती है तथा परलोक में नरक की भयानक यातनाओं को भोगता है। जो श्रावक पक्ष पात रहित है, जिसकी



बुद्धि कदाग्रह रूपी कीचड़ से अवलिप्त नहीं है, जिनका हृदय आप्तत्व से परिपूर्ण है, जिसका विश्वास देव,गुरु और शास्त्रों में दिन दूना और रात चौगुना अविचलता की ओर अग्रसर होता जाता है वह नर श्रेष्ठ इस लोक में नाना प्रकार के ऐश्वर्य और सुखों को भोगकर अन्त में परम सुख को प्राप्त होता है । अत-श्रावक मात्र को चाहिये कि वह अपने उभयलौकिक सुख के लिये अपने हृदय से कदाग्रह की वासना तक को हटादे ।

॥ अथैक विंशतितमो गुण प्रारभ्यते ॥

सज्जन मनुष्यों में जो सज्जनता, उदारता, दयालुता स्थिरता और मधुर भाषण आदि बातें पाई जाती हैं उन्हीं का नाम गुण है जो मनुष्य अपने और पराये के उपकारा के कारणभूत योग्य व्यक्तियों और अपने साधर्मी भाइयों क गुणों की प्रशसा करके उनकी यथा योग्य महायता में प्रवृत्त होता है वह गुणो का पक्ष-पाती (गुणपक्षपाती) कहलाता है ।

गुण-पक्षपाती मनुष्यों को बडे भारी अलभ्य पुण्य की प्राप्ति होती है जिसके कारण वे इस लोक में राजसी वैभव को भी तिरस्कृत करने वाले ऐश्वर्य से समलङ्कृत होते हैं । उनके दरवाजों पर हाथी मस्ती म झूमते रहते हैं और नौकर चाकर दिनरात हाथ बाँधे हुक्म की प्रतीक्षा मे खडे रहते हैं । जहाँ जाते हैं वहाँ उनका बडा आदर होता है । वे गुणीजनो के गुणा की उदारता और दयालुता आदि की सर्वत्र प्रशंसा करते हैं और उनकी प्रसिद्धि [illegible] अपनी प्रसिद्धि और उन्नति उप



जनोपकारी कार्यों में उनकी हृदय से सहायता करते हैं जिससे वे अक्षय पुण्य के भागी बनते हैं और मृत्यु के बाद परलोक में भी असीम आनन्द का अनुभव करते हैं। अत श्रावक मात्र को दोनों लोकों में सुखी बनने के लिये गुण पक्षपाती होना अत्यंत लाभप्रद है।

॥ अथ द्वाविंशतितमो गुण. प्रारभ्यते ॥

जो प्राणी देश और काल के अनुसार अपना आहार विहार और आचार विचार रखता है, जो देश कालानुसार अपने अलौकिक व्यवहारों को बदलता रहता है जो सर्व प्रथम अपने दिल में देश और कालका विचार करके फिर किसी काम के करने में हाथ डालता है, जा सदैव देश और काल की अवस्था के अनुसार अपना जीवन घटिका में परिवर्तन करता रहता है वह इस ससार म निरन्तर सुखी बना रहता है।

न तो उसको लोकापवाद का भय रहता है और न किसी चोर अथवा राजा का। लज्जा के मारे न कहीं उसको अपना मस्तक ही नीचा करना पड़ता है और न देश कालानुसार के विपरीत खानपान न करने से उस को किसी रोग का ही शिकार होना पड़ता है। देश और काल के मुताबिक चलने वाला व्यक्ति कभी कहीं किसी प्रकार का दुःख नहीं पाता। वह सदैव सर्वत्र शान्ति और सुख के साम्राज्य में विचरता रहता है। जो व्यक्ति अपने दिल में देश और काल का विचार किये बिना ही अपनी अहंमन्यता में मस्त होकर विचरता है और अपने आचार विचार,



विहार, शय्या भोजन और कर्तव्य तथा लोकापवाद की तनिक भी परवाह नहीं करता वह उभयसे भ्रष्ट होकर अन्त में अपने जीवन से हाथ धो बैठता है। जब तक वह जिन्दा रहता है तब तक वह अनेक रोगों से पीडित रहता है। तरह २ क क्लेशा से दुःखी रहता है। अनेक अपराधों के कारण राजा से दण्डित होता है। अभक्ष्य भक्षण और अपेय पान के कारण सब लोगों से घृणा की दृष्टि से देखा जाता है यहाँ तक कि उस की जाति वाले भी उसका सब तरह से बहिष्कार कर देते हैं। अन्त में वह असहाय होकर इस लोक में बहुत दुःख पाता है और मरने के बाद नरक में जाता है। अत श्रावक मात्र को चाहिये कि वह अपने सुख के लिये देश और कालकी कभी अवहेलना न करें बल्कि उसका हर समय हृदय में खयाल रख कर काम करे इसी में उसका भला है।

॥ अथ त्रयोविंशतितमो गुण प्रारभ्यते ॥

जो मनुष्य अपनी और अपने शत्रु की शक्ति एव निर्बलता का तथा द्रव्यक्षेत्रादि कृत सामर्थ्य और असामर्थ्य का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात ही अपने शत्रुओं के साथ सधिविग्रहादिक कार्य करता है वह अवश्यमेव संसार में विजयी होता है और उसके सभी मनवांछित कार्य सदैव सफल होते हैं। वह हमेशा जागरूक रहता है और किसी तरह का दृष्ट और अदृष्ट भय उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। ऐसे साहसी और विवेकी पुरुष के शत्रु भी

प्राप्त कर सकते हैं और उनमें भी ये सब उपरोक्त गुण और शक्ति वृत्तस्थ ज्ञान वृद्धों की सेवा करने से ही प्राप्त होती है। क्योंकि उनमें खुद तरने की और दूसरों को तारने की ताकत होती है और जब वे सेवा से सन्तुष्ट और प्रसन्न होजाते हैं तो वे अलौकिक ताकत से सेवा से सेवा करने वाले व्यक्तियों की दरिद्रता को दूर करके उन्हें सन्मार्गगामी बनाकर इह लोक तथा परलोक में सुख भोगने के साधन प्राप्त करा देते हैं। इसलिये ऐसे वृत्तस्थ ज्ञानवृद्ध महापुरुषों की सेवा करना स्वर्ग और अपवर्ग जैसे बड़े २ सुखों का देने वाला है। अत श्रावक मात्र को चाहिये कि वह ऐसे महापुरुषों की सेवा और सत्कार तथा उनकी आज्ञा का पालन सर्वदा नि स्वार्थ भाव से करे जिससे उसे अनेक प्रकार के अलभ्य सुखों की प्राप्ति हो।

॥ अथ पचविंशतितमो गुण प्रारभ्यते ॥

ससार म अलभ्य वस्तु की प्राप्ति होना योग और प्राप्त हुई वस्तु का सरक्षण करना क्षेत्र कहलाता है। इन दोनों के द्वारा माता पिता, स्त्री पुत्र और सेवकादि का यथाशक्ति भरण पोषण करना मनुष्य मात्र का परम कर्त्तव्य है क्योंकि ये पोष्य हैं और मनुष्य इनका पोषक है। जो मनुष्य इनका भरण पोषण नहीं करता वह कर्त्तव्य च्युत होकर सब जगह लोगों द्वारा अनादृत होता है। सर्वत्र उसकी निंदा होती है और दुनियाँ में वह अपयश का भागी होता है। इन सब बातों के होने के कारण उसके चेहरे की कांति निस्तेज होजाती है। उसकी रही सही प्रतिष्ठा भी

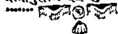


धूल में मिल जाती है और वह फिर लज्जावश किसी को अपना मुँह दिखान का भी साहस नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्तियों को कभी २ अधिक मात्रा में निन्दित, अपमानित और लज्जित होने के कारण अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता है और वे इस लोक में दुख भोग कर ही अपना छुटकारा नहीं कर पाते लेकिन उन्हें मरणोपरान्त भी परलोक में नारकीय यन्त्रणायें सहनी पड़ती हैं।

शास्त्रों में भी लिखा है कि—" परलोक विरुद्धानि कुर्वाण दूरतस्त्यजेत् " अर्थात परलोक के विरुद्ध कार्य करनेवाले व्यक्तियों को सदैव अपने से दूर रखना चाहिये यानि उनको सगत नहीं करनी चाहिये क्योंकि "तत्सयोगी च पथ्यम" इस न्यायानुसार उसकी सगत करने वाला व्यक्ति भी पाप का भागी बन जाता है। जब शास्त्र ऐसे व्यक्तियो का सग करने वालों को भी इतना हेय और पतित समझता है तो उनका तो फिर कहना ही क्या ?

इसलिये श्रावक मात्र का यह परम कर्तव्य है कि वह अपने कुटुम्ब का भरण पोषण बिना किसी सकोच के करे क्योंकि (आश्रित भरणं सुपुरुषलक्षण) अपने उपर अवलम्बित व्यक्तियों का भरण पोषण करना यह सत्पुरुषों का चिन्ह है अतः इस कार्य से कभी विमुख नहीं होना चाहिये।

कई सज्जन 'पोष्य' शब्द का अर्थ आत्मा से करते हैं उसका भरण पोषण करना मनुष्य मात्र का फर्ज है। इसका सच्चा भरण पोषण तो तभी ` है जब मनुष्य स्वतत्रता पूर्वक अपनी आजीविका है। कारण की शास्त्रकार दूसरे के



वने वसन्नेव जरामुपागतो,
विलस्य वाणी न कदापि मे श्रुतम् ॥

अर्थात् विचारशील हैं वे सुख पाते हैं और जो बिना विचारे काम करने वाले हैं वे पछताते हैं। जंगल में रहते रहते बूढ़ा होगया लेकिन गुफा को मैंने कभी बोलते हुए नहीं सुना।

देखो ! सियार ने पशु होते हुए भी अपनी दीर्घदर्शिता के कारण अपनी जान बचाली तो हमतो मनुष्य हैं अतः हम प्रयत्न करने पर सहज में ही दीर्घदर्शी बन सकते हैं और सुखी बनने के साथ साथ अपना अपने कुटुम्ब का अपने देश तथा समाज का भला भी कर सकते हैं इसलिये दीर्घदर्शी बनना श्रावक मात्र का एक प्रकार का कर्त्तव्य ही है।

अथ सप्तविंशतितमोगुण प्रारभ्यते

सत्य असत्य, कृत्य अकृत्य और सत् असत् तथा अपने और पराये के अन्तर निर्णय करने की शक्ति जिसमें विद्यमान हो वह मनुष्य विशेषज्ञ कहलाता है। कई विद्वान् विशेषज्ञ की यह भी व्याख्या करते हैं कि जो अपनी आत्मा के गुण और दोषों के उत्कृष्ट स्वरूप को पहिचानने की शक्ति रखते हैं वे विशेषज्ञ कहलाते हैं शास्त्र में लिखा है कि—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः किन्नु मे,
पशुभिस्तुल्यकिन्नु सत्पुरुषैरिति



मनुष्य को चाहिये कि वह अपने चरित्र का सदैव निरीक्षण करे और इस बात का विचार करे कि मेरा चरित्र पशु तुल्य है या सज्जनों के चरित्रों के समान है। जो मनुष्य विशेषज्ञ हैं उनकी सर्वत्र इज्जत होती है। उन्हें हरबात में लोग अपने से विशेष समझ करके उनसे हर कार्या में सलाह लेते हैं लेकिन जो विशेषज्ञ नहीं है उन्ह कोई पूछता तक भी नहीं और वे अपना जीवन इस ससार में पशुतुल्य बिताते हैं। जो विशेषज्ञ होता है वह अपनी गत्यादि का भी विचार करसक्ता है जैसे—

इष्टोपपत्तिर्मम केन कर्मणा,
कुत. प्रयातव्यमितोभवादिति।
विचारणा यस्य न जायते हृदि,
कथ स धर्मप्रवरो भविष्यति॥

अर्थात् मैंने पूर्वजन्म में ऐसे कौन से कर्म किये जिससे मुझे इस नर योनि मे जन्म लिया और इस जन्म से मुझे अन्य जन्म में किस योनि म जाना है इस बात का विचार जिस मनुष्य के हृदय में नहीं होता वह धार्मिक कैस कहा जासकता है। इस प्रकार 'विशेषज्ञ' पुरुष अपनी बुद्धि द्वारा स्वहित और परहित दोनो कर सकता है और बडे आनन्द से अपनी जीवन यात्रा सफल कर सक्ता है। इसलिये 'विशेषज्ञ' होना श्रावक मात्र क लिये एक प्रकार का कर्त्तव्य सा होजाता है। अत अवश्य ही गृहस्थ मात्र को विशेषज्ञता प्राप्त करने के निमित्त उपाय करते रहना चाहिये।

प्रेम उनपर हो जायगा तो सम्पत्तियें अपने आप उनके पास चली आयेंगी। अतः लोक वल्लभ बनने के लिये मनुष्य को सर्व प्रथम जितेंद्रिय होना चाहिये। वह निर्भय होकर सिंह की तरह इधर उधर अपनी इच्छानुसार घूमता है क्यों कि उसे लोक प्रिय बनाने वाला शील सदैव उसके साथ रहता है। उस शीलकी शक्ति से।

वन्हि स्तस्य जलायते, जलनिधिः कुल्यायतेतत्क्षणा।
न्मेरुःस्वल्प शिलायते, मृगपतिः सद्य कुरङ्गायते॥
व्यालो माल्य गुणायते, विषरसः पीयूष वर्षायते।
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतम, शीलं समुन्मीलति॥

उस पुरुष के लिए उष्णस्वभाव वाला अग्नि भी जलके समान शीत हो जाता है। मुश्किल से पार करने योग्य समुद्रभी उसके लिये छोटा सा बन जाता है। मेरु पहाड उस शीलधारी पुरुष के लिए क्षणमात्र म एक छोटासी शिला बन जाता है। सिंह उसके लिए शीघ्र हिरण बनजाता है भयंकर साँप ऐसे पुरुष के लिए पुष्पहार क समान बन जाता है और प्राणों का अपहरण करने वाला जहर भी उसके हेतु अमृत बन जाता है।

जिनमें लोक वल्लभ बनने की शक्ति नहीं है और जो लोक वल्लभ बनने के लिए उद्यम भी नहीं करते वे केवल अपनेही स्वार्थ पर भी कुठाराघात कर बैठते हैं। संसार में सर्वत्र उनका अपयश छाजाता है। उनकी विश्वासपात्रता पर पानी फिरजाता है और वे दर दर भटके फिरते हैं तथा उनकी दशा धोबी के कुत्ते की होजाती



है जो घर का रहता है न घाट का। इसलिए लोक वल्लभ होना भी श्रावक का एक विशेष गुण समझा जाता है जिसकी प्राप्ति के लिए उसे भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

॥ अथ त्रिंशत्तमो गुणः प्रारभ्यते ॥

अब तीसवें गुण में यह बताया जाता है कि श्रावक को लज्जावान होना चाहिये। जो मनुष्य लज्जावान होता है वह कभी चोरी व्यभिचार, मद्यपान, असत्य भाषण, परनिंदा आदि बुरे कामों के करने का साहस नहीं कर सकता क्योंकि उसे सदा लोकापवाद का डर बना रहता है और वह समर्थ होते हुए भी लोक विरुद्ध शुद्ध कार्य को भी करता हुआ घबराता है तो कुकर्म करते समय तो उसकी दशा का वर्णन ही हम नहीं कर सकते। देखो ! भगवान राम जिन्होंने अग्निशुद्ध सीताजी को लोकापवाद के भय से त्याग दिया था। वे कहते हैं—

अवैमि चैनामनघेति किन्तु,
लोकापवादो बलवान्मतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वे
नारोपिता शुद्धि मतः प्रजाभिः॥

मैं इस सीता को सती मानता हूँ लेकिन मेरे मन में लोकापवाद बड़ा बलवान है। क्योंकि देखो पृथ्वी की छाया जो कि निष्कलंक चन्द्रमा में गिरती है उसे लोगों ने चन्द्र के कलंक का



रूप दे दिया है। भगवान् राम लज्जावान थे इसलिये उन्हें लोकापवाद का भय लगा और उन्हें सीताजी त्यागनी पड़ी। जो लज्जावान होता है वह कभी भी अपने कर्तव्य से च्युत नहीं हो सकता उसे सदैव अपने कर्तव्य का ध्यान बना रहता है। उसके दिल में यही शंका बनी रहती है कि जरासा चूके और दुनिया में हसी हुई। इसके सिवाय वह अपनी प्रतिज्ञा को भी नहीं छोड़ता, चाहे उसके प्राण ही क्यों न चले जाय। उसके लिये तो यह अटल ध्येय हो जाता है—

रघुकुल रीति यही चली आई।
प्राण जाय पर वचन न जाई॥

ऐसे पुरुषों के लिए उनका कर्तव्य पथ ही महत्त्वशाली होता है इसके सामने वे किसी की कुछ भी परवाह नहीं करते। वे अपने प्रण पालन करने के निमित्त अपने सुख और प्राणों को भी छोड़ देते हैं लेकिन अपनी की हुई प्रतिज्ञा नहीं छोड़ते जो एक बार मुह से कह दिया उसे बिना पूरा किये नहीं छोड़ते। इन सबका कारण क्या है ? इन सब बातों का एकमात्र कारण यह लज्जा ही है। इसलिए लज्जा का हिन्दू शास्त्रों में देवी का स्वरूप कहा गया है जिसमे यह विद्यमान होती है उसका सब तरह से कल्याण ही होता है। जिसमे इसका निवास नहीं होता वह मनुष्य निर्लज्ज होता है और बेशर्म होने के कारण उसे किसी का भय नहीं रहता। वह निर्भय होकर दुष्कर्म करने पर उतारू हो जाता है। सारे दुर्गुण और दुराचार तथा दुर्व्यसन



उसकी आत्मा पर अपना अड्डा कायम कर लेते हैं और फिर वह किसी बड़े भारी अपराध का अपराधी बनकर कैदखाने में पड़ा पड़ा दु ख भोगता है और कभी न कभी उसे फासी के तख्ते पर भी चढना पड़ता है। परलोक में भी उसे तरह २ के दु:ख भोगने पड़ते हैं और निकृष्ट योनियों में जन्म लेना पड़ता है। अत निर्लज्जता का त्याग करके हमें अवश्य ही लज्जावान बनना चाहिये। इसीमें हमें सुख और शांति मिल सकती है।

॥अथैक त्रिंशत्तमो गुण॰ प्रारभ्यते॥

सभी धर्म वालों ने 'दया' को धर्म का मूल बतलाया है। ऐसा कोई भी शास्त्र नहीं हैं जो 'दया धर्म' का प्रतिपादन नहीं करता हो। दु खित प्राणियों की रक्षा और सहायता करने की अभिलाषा को दया कहते हैं। दयालु मनुष्य ही बड़ा आदमी कहलाता है। प्रसिद्ध मुसलमान कवि रहीम कहते हैं कि—

बड़े दीन को दुःख सुने लेत दया उर आनि।
हरि हाथी सों कब हुती कहो रहीम पहचानि॥

केवल मोटरों मे बैठने से, करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति एकत्रित करने से या प्रधान मत्री और न्यायाधीश बनकर कुर्सियों को तोड़ने से कोई बड़ा आदमी नहीं बन सकता लेकिन जो गरीबों के दु ख दर्द को सावधान होकर सुनता है। जिनकी दर्द भरी आह सुनकर जिसका हृदय दयार्द्र होकर पिघल जाता है जो



प्राणीमात्र की दयनीय दशा को देखकर उसकी रक्षा और सहायता के लिए कटिबद्ध हो जाता है। संसार में वही बड़ा आदमी समझा जाता है। लोग उसीका आदर करते हैं और उसीके पाछे अपनी जान तक देने को तैयार रहते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण॥

इस उपरोक्त दोहे में कवि ने दया को धर्म का मूल और पाप को अभिमान का मूल बतलाया है और साथ में यह भी बतलाया है कि जब तक इस नश्वर शरीर में प्राण विद्यमान हैं तब तक मनुष्य को अपने दिल से दया नहीं भुलानी चाहिये। दयालु मनुष्य ही धार्मिक कार्यों के करने के योग्य है क्योंकि मनुष्य सुख चाहते हैं और बिना धर्म के सुख नहीं मिलता और बिना दया के धर्म की प्राप्ति नहीं होती इसलिए दयायुक्त कार्यों में मनुष्य को अवश्य प्रवृत्ति करनी चाहिए। दया भी मनुष्यको अपना और पराये का भेद छोड़ करके तथा अपना आत्मा के समान दूसरे की आत्मा को समझकर करनी चाहिए।

मनुष्य अगर निर्दयी है तो उसका दान करना, उसका वेद पढ़ना, उसका देवादिको का पूजन करना, उसका ज्ञान ध्यान करना सब वृथा है। दयावान् पुरुष के किये हुए जप तप, पूजा पाठ, व्रत उपवासादि कार्यों का फल उसे सौगुना मिलता है।

॥ अथ द्वात्रिंशत्तमो गुण

शास्त्रों में लिखा है कि 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' अर्थात् [illegible] पर सौम्य और सुन्दर आकार होता है उसमें गुण निवास [illegible] हैं। गुणी मनुष्यों का सर्वत्र आदर होता है और वह अपने गुणों के प्रभाव से सबको अपने वश में कर लेते हैं। शास्त्र कहता है कि शरीर का रूप और आकृति अन्न के अनुरूप होती है और बुद्धि पर भी अन्न का असर पड़ता है। तथा बुद्धि और अन्न का प्रभाव आकार पर पड़ता है। इसलिये मनुष्य जैसा अन्न का भक्षण करेगा वैसा ही उसका आकार, रूप रंग और [illegible] तथा बुद्धि होगा।

जो मनुष्य अपने परिश्रम से सच्चाई पूर्वक और न्याय पूर्वक कमाये हुए धन से खरीदे हुए या कृषि द्वारा [illegible]। [illegible] किये हुए शुद्ध अन्न का [illegible] भोजन करता है उसके

कर्त्तव्य समझ कर ही करते हैं। उपकारी मनुष्य ही धर्माधिकारी हो सकता है इसलिये मनुष्यों को अवश्य ही परोपकारी बनना चाहिये जिससे कि व धर्माधिकारी बन कर अपनी आत्मा का कल्याण कर सकें।

॥ अथ चतुस्त्रिंशत्तमो गुण प्रारभ्यते ॥

काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष ये छ: अतरंग शत्रु कहलाते हैं।

दूसरे की विवाही हुई या अन व्याही हुइ स्त्रियों में विषय वासना की इच्छा करना 'काम' कहलाता है। यह बड़ा प्रबल है। यह मनुष्य को अन्धा बना देता ह और उसे अपनी प्रतिष्ठा से पतित कर देता ह। कामी से बढ़कर के दुनियाँ में दूसरा कोइ अन्धा नहीं है। मनुष्य मे महत्ता, पण्डिताई, कुलीनता और ज्ञान तब तक ही निवास करते हैं जबतक उसके हृदय में कामाग्नि जलने शुरू नहीं होती। इसलिय अपना सर्वस्व बचाय रखने क लिय काम को अपने पास ही न फटकने देना चाहिए।

अपन विचार और आज्ञा के विरुद्ध कोई काम करन पर हृदय के भीतर जो रोष उत्पन्न होता है उसे क्रोध कहते हैं। यह मनुष्यों का शरीर म रहा हुआ प्रथम शत्रु है। मनुष्य के हृदय में सताप पैदा कर देता है। विनय को नष्ट कर देता है। मित्रता के सबन्ध को तोड देता है। परुषवचन मुँह से निकल जाता है। कलह पैदा करवा है कीर्तिको नष्टभ्रष्ट करदेता है। पुण्य



प्रवाह को रोक देता है। यह कुबुद्धि प्रदान करके मनुष्य की दुर्गति कर डालता है। इसलिये क्रोध का त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है।

दान योग्य पुरुषों को अपना धन दान न देना और परायेधन को अकारण ही हथियाने का प्रयत्न करना लोभ कहलाता है। लोभ पाप का मूल है। जिस मनुष्य के दिल में यह घर कर लेता है उसे यह पतित, पापी नीच कर्म करने वाला और खुशामदी बना देता है। लोभी मनुष्य नीच पुरुष की भी प्रशंसा करता हुआ नहीं लज्जित होता, अपने शत्रु और गुण हीन पुरुषों का भी गुणगान करने से नहीं चूकता और वह कृतघ्न पुरुष की सेवा करने में भी दुःख नहीं मानता। वह धन के खर्च के भय से अपने मित्रजनों से अधिक स्नेह नहीं करता, वह स्तुति से भी प्रसन्न नहीं होता, बड़ा भारी लाभ होने पर भी उसे संतोष नहीं होता। अधिक क्या कहें लोभी मनुष्य अपनी आत्मा और कुटुम्बियों के हर प्रकार के कष्टों को सहन कर सकता है लेकिन वह उनसे छुटकारा पाने के लिये अपना धन व्यय नहीं करता। लोभ के वशीभूत होकर वह नीच से नीच कार्य को भी करने के लिये उतारू होजाता है जिससे वह पाप का भागी होता और कर्मानुसार उभय लोक में दुःख भोगता है। इस कारण दुर्गति करने वाले लोभ का तिरस्कार करना ही उत्तम कार्य है।

अपने कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप और विद्या आदि से हृदय में उत्पन्न होने वाले अहंकार को 'मद' कहते हैं। मनुष्य को यह



मद नहीं रखना चाहिए। जब तक मनुष्य अपने बुढापे को जीत कर युवावस्था को प्राप्त नहीं कर लेता, यमराज को जीत कर जो अपने शरीर का अमर नहीं बना लेता, अपने ऐश्वर्य से जो दरिद्रों के दारिद्र्य को दूर नहीं कर पाता तब तक उसका मद करना वृथा है। 'मद' मनुष्य को एक दम अवनत दशा को प्राप्त करा देता है। मदान्ध होकर मनुष्य अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य को भूल जाता है और वह ऐसे ऐसे घृणित कार्य कर बैठता है जिससे उसके स्वजन तक उसके शत्रु बन जाते हैं तथा अन्त में उसे बड़ा भारी दुःख उठाना पड़ता है। अतः दुःखों से बचने का सरल उपाय 'मद का त्याग करना' ही है

अपने मिथ्या हठ को नहीं छोड़ना और युक्तिसंगत बात को ग्रहण न करना 'मान' कहलाता है। जिनमें तत्व ग्रहण करने की शक्ति नहीं है। तथ्यातथ्य का पूर्णतया विचार करने की सामर्थ्य नहीं है। उन्हीं पुरुषों के हृदय में अपना अड्डा कायम कर लेता है। जिस प्रकार हवा बादलों को, साप प्राणियों के जीवन का हाथी कुमुदिनी को और नीच पुरुष अपने साथ किये गये उपकारों को जिस प्रकार नष्ट कर देता है ठीक उसी प्रकार यह मान मनुष्य के सदाचार और त्रिवर्ग (धर्म अर्थ और काम) को नष्ट कर देता है। जब त्रिवर्ग ही नष्ट हो जाता है तब मनुष्य के पास अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये कुछ भी साधन नहीं बच पाता और उसे हर तरह से इहलोक तथा परलोक मे तीन तेरह होना पड़ता है। इसलिये मान का त्याग करना भी, धार्मिक पुरुष के लिये अत्यावश्यक है।

॥ अथ पञ्च त्रिंशत्तमो गुण: प्रारभ्यते ॥

मनुष्य पांच इन्द्रियोंका भौतिक पुतला है। वे पांच इन्द्रियां स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र हैं। इन पांचों इन्द्रियों के अलग २ विषय हैं, इन्हीं विषयों में विषयासक्त होकर मानव अपने मानव जीवन को हमेशा के लिए बरबाद कर देता है।

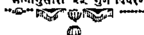
संसार की किसी भी मोहक या घृणित वस्तु को देखकर जिस व्यक्ति की इन्द्रियों में तनिक भी विकार उत्पन्न न होता हो, और जो सर्वदा अविकृत भावना से अपनी सैद्धान्तिक साधना में लगा रहता हो वह मनुष्य जितेन्द्रिय व्यक्ति कहलाता है।

जितेन्द्रिय व्यक्ति ही सांसारिक प्रवृत्तियों से सर्वथा परे रह कर अपनी साधना को चरम सीमा तक पहुँचाने की चरम क्षमता रखता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति सब श्रेष्ठ उच्च पद पर आसीन कराने वाली साधना में भले ही क्यों न लगा रहता हो? जब तक उसकी एक भी इन्द्रिय विकृत भावना के दुष्पथ की ओर प्रवृत्त होती रहती है, वह उस पद पर कभी आसीन हो ही नहीं सकता है। उसका वह प्रयास भी बालू

रेती में से तेल निकालने के समान कहा जा सकता है ।

प्राचीन इतिहासों के पन्ने उलटने से हमें यह पता लगता है और यह सर्वसोमान्य निर्विवाद सिद्धान्त है कि कई महापुरुष निर्वाण पद की प्राप्ति के लिए या अन्य किसी शुभ कार्य को सुचारुवया सम्पन्न करने के हेतु तपस्या करते हैं, जप करते हैं, एव विविध प्रकार से कई साधनाओं में अपने आपको तन्मय बना लेते हैं, परन्तु ज्योंही उनकी निश्चतेन्द्रिय अपने सुदृढ और अडिग पथ से डिगी, कि उनका सारा श्रम एव समस्त साधनाएं पर्वत के उच्चतम शिखर से गिरने वाले के समान नष्ट हो जाती हैं और वे न केवल पारलौकिक पथ से ही च्युत कहलाते हैं, अपितु ऐहिक लोक में भी उनका वही स्थान रहता है, जो किसी तिरस्कृत, अनादृत एव पथभ्रष्ट नराधम का हो सकता है । इस प्रकार इन्द्रियों को वश में न करने वाले अजितेन्द्रिय व्यक्ति अपने जीवन का यों ही दुरुपयोग करते हुए पृथ्वी के लिए भारभूत से बन जाते हैं । उपरोक्त विषय की प्रामाणिक पुष्टि करते हुए शास्त्रकारों ने भी कहा है कि—

इन्द्रियाण्यवशीकृत्य विश्वस्मिञ्चरते हि यः ।
पृथिव्या भार भृतोऽसौ पशुवन्मन्यते सदा॥१॥



जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में न रखकर संसार में फिरता रहता है, वह पृथिवी के लिए भारभूत है और वह हमेशा पशुओं के समान माना जाता है। उपर्युक्त शास्त्रीय प्रमाण से एवं अन्य सैद्धान्तिक प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध है कि मनुष्य को अपने मानव जीवन की यथार्थ सार्थकता को पूर्णतया सफल बनाना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि वास्तविक मनुष्य कहलाने का अधिकारी वही है, जो जितेन्द्रिय है। इसी प्रकार वास्तविक साधना में सफलता प्राप्त करने वाला वही है जिसने अपनी इन्द्रियों को पूर्णतया वश में कर रखी हों। कहां तक कहा जाय? वास्तविक पवित्र गृहस्थ धर्म का भी अधिकारी वही है, जिसने अपनी इन्द्रिया जीत रखी हों?

अत प्रत्येक मनुष्य को चाहे वह गृहस्थी हो चाहे विरक्त, अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर जितेन्द्रियत्व प्राप्त करना चाहिये। इसी में मानव जीवन की सार्थकता है और इसीसे परम पद प्राप्त होता है।

॥ समाप्त ॥



॥ उज्जयनी नगरे चिंतामणी पार्श्वनाथ स्तवन ॥

पारस थारी मूर्ति मोहनगारी । लागे छे माने, प्राण थकी प्यारी ॥ पारस ॥ नगर बनारस जन्म लियो प्रभू । वामामाता सुखकारी ॥ पारस ॥१॥ अश्वसेनजी के कुल में जन्मे । जगजीवन हितकारी ॥ पारस ॥२॥ नाग नागणी आप बचाए । दियो स्वर्ग सुखकारी ॥ पारस ॥३॥ मालव देशे उज्जयनि नगरे । देरा खड़की छे सारी ॥ पारस ॥४॥ अयवती नगरी में सोहे । चिंतामणी हितकारी ॥ पारस ॥५॥ भय भंजन चिंतामण स्वामी । जयजय होय तुमारी ॥ पारस ॥६॥ चिंतामणी छो पारस स्वामी, -थारी में वारे हजारो ॥ पारस ॥७॥ जैन धर्म चिंतामणी जैसो । जगत जीव हितकारी ॥ पारस ॥८॥ आनंद पाया धन्य सवाया । धर्म दिपाया भारी ॥ पारस ॥ ९ ॥ महोदय दर्शन सागर पाया । उद्भट भाव मन धारी ॥ पारस ॥ १० ॥

(२)

चिंतामण मारी चिंताचूर । पार्श्वनाथ मन वंछित पूर ॥ चिंतामण पारस प्रभु आप । भव्य जीवना छो अवदात ॥१॥ मन वांछित पूरण जगनाथ । पार उतारो पकड़ी हाथ ॥२॥ संकट मोचन छो शिरताज । खेवटनी प्रभू राखो लाज ॥३॥ -अहि लांछन जग तारक देव । सुरनर करता तुम पाय सेव ॥४॥ नगर उजयनि मालव देश । देरा खड़को मांहि विशेष ॥५॥ थामे जिन सुन्दर आवास । भविजन पामे देखी उल्लास ॥६॥ त्यां छो प्रभु

चिंतामण स्वाम । गाऊ प्रभुजी ना गुण ग्राम ॥७॥ सकट मेटे दुखने हरे । भव्य जीवानां कारज सरे ॥८॥ ध्यातां होवे भवनो पार । देखी प्रभुजी नो देदार ॥९॥ आनद–हर्ष पावे प्रभु–चन्द्र । देख्याँ पावे धर्म आनद ॥१०॥ महोदय पोंहचो अति रिझाय । दर्शन सागर आवे दाय ॥११॥

(३)

श्री चिंतामण स्वामी, आयो तुमारे दरबार में । जग अतर-जामी । आयो तुमारे दरबारमें ॥ यह चाल ॥ भव भ्रमणमें कीधा घणेरा, चार गति निरधारी ॥ नर्क निगोद तिर्यंचे रूल्यो, नहीं छुटकनी बारी ॥ चि ॥१॥ गर्भावासमा दधे मस्तक, मनुष्यपणु हु पायो ॥ राग द्वेष वैरी बहु नडियो, रतनचिंतामणा हार्यो ॥ चि ॥२॥ एम अनंता जन्म मरणमें, तूही जगतारण मिलियो ॥ सुरतरु सुरगवो काम काम कुभ मुज, धर्म कल्पद्रुम फलियो ॥ चि ॥३॥ अपराधी पण तेंज उद्धरिया, कमठपे करुणाकीनि ॥ बोधीबीज महाफळ आपो, तुम्ह करुणा दृष्टि भीनो ॥ चि ॥४॥ अमृतपान कियो एक बारो, राग नहीं सम देहे ॥ कुदेवतजी सुदेव सेवनथी, किम पडे दुर्गति गेहे ॥ चि ॥५॥ उज्जैन नगरमें आप विराजो, श्री चिंतामण स्वामी ॥ चमत्कारी तुम्ह पडिमा सोहे, भव्य नमे शिरनामी ॥ चि ॥६॥ आनद अन्धि उहेर अतरमा, चन्द्र चकोर निहाळी ॥ धर्म महोदय चरण पसाए, दर्शन दुर्गति टाळी ॥ चि॥ ॥७॥